बंगमहिला के लेखन में स्त्री चेतना

एम. फिल. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत
लघु शोध प्रबंध

(2001)

शोध निर्देशक
डा. वीर भारत तलवार

शोध–कर्त्ता
रश्मि

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवम् संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली – 110067

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY

NEW DELHI-110067

Centre for Indian languages 20-7-2001

DECLARATION

I declare that the material in this Dissertation entitled 'BANG MAHILA KE LEKHAN MAIN ISTRI CHETNA' submitted by me is original work and has not been previously submitted for any other degree of this or any other university/institution.

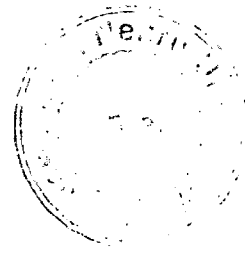

RASHMI

Name of the Scholar

Vir Bharat Talwar

Dr: VEER BHARAT TALWAR
(Supervisor)
(CIL/SLL&CS/JNU)

PROF. MANAGER PANDEY
(Chairperson)
(CIL/SLL&CS/JNU)

GRAM: NAYENU TEL.: 667676, 667557 TELEX: 031-73167 JNU IN FAX: 91-011-8865886

विषयानुक्रमणिका

	पृष्ठ सं0
भूमिका	1-2
अध्याय - 1	3-28
बंग महिला का जीवन और कृतित्व : एक परिचय	
अध्याय - 2	29-60
तत्कालीन युग में स्त्री चेतना	
अध्याय - 3	61-84
बंग महिला की स्त्री चेतना : एक तुलनात्मक अध्ययन	
निष्कर्ष	85-91
ग्रंथानुक्रमणिका	92-95
पत्रिकाएं	96

भूमिका

हिन्दी साहित्य का इतिहास पढ़ने के दौरान मुझे बंगमहिला नाम ने एकाएक आकर्षित किया। यह बहुत साल पहले की बात है तब केवल इतनी ही जिज्ञासा मिट पायी कि वे कोई बंगाली महिला हैं, जिन्हें हिन्दी की प्रथम गद्य लेखिका होने का गौरव प्राप्त है।

जब शोध का समय आया तो बंगमहिला नाम ने फिर आकर्षित किया। 'बंगमहिला ग्रंथावली' को पूरा पढ़ा। पढ़ने के साथ-साथ उनकी स्त्री चेतना पर काम करने के विचार को पक्का कर लिया। इसके बाद उनकी स्त्री चेतना के तत्कालीन संदर्भो को तलाशने का काम शुरू हुआ।

साहित्य में स्त्री चेतना का वर्तमान प्रारूप मुझे इसके अतीत में जाने के लिए उद्वेलित करता रहा है, इसके लिए प्रथम महिला साहित्यकार के लेखन से बेहतर और क्या हो सकता था। बंगमहिला का जीवन स्वयं एक स्त्री संघर्ष की गाथा है और उनका साहित्य भी इस विवशता और विडंबना से अछूता नही है।

विषय को जानने और समझने के लिए साहित्य और समाज दोनों के इतिहास को छानने का अवसर मुझे मिला। कुछ प्रश्न उभर कर सामने आए, जैसे क्या कारण थे कि समाज सुधार आंदोलन का रूख स्त्रीवादी मुक्ति आंदोलन की ओर हो गया? साहित्य में इसकी प्रतिध्वनि क्यों सुनाई नही पड़ती? गद्य साहित्य की पहली लेखिका ने कैसा लिखा और क्यों लिखा? क्या कमियां थी कि डेढ़

शताब्दी से अधिक गुजर जाने के बाद भी कमोबेश समाज की मानसिकता वही है? स्त्री मुक्ति आंदोलन क्यों स्त्री की मुक्ति को सार्थक नहीं बना सका?

यह शोध यथासंभव इन प्रश्नों के उत्तर खोजने का प्रयास है।

शोध प्रक्रिया में पुस्तकालयों का सहयोग उनकी गरिमा के अनुरूप रहा। मित्रों के साथ और विश्वास के लिए आभार की आवश्यकता नही है।

अपने शोधनिर्देशक और शिक्षक डॉ0 वीर भारत तलवार जी के प्रति आभार, जिन्होंने शोध की समझ पैदा की।

-रश्मि

अध्याय - 1

बंग महिला का जीवन और कृतित्व : एक परिचय

हिन्दी साहित्य के इतिहास में 19वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों को नवजागरण काल के नाम से जानते हैं। जिस समय जनमानस नई चेतना व नए विचारों से उद्वेलित हो रहा था, साहित्य में भी बदलाव व प्रयोग की प्रक्रिया जारी थी । भारतेन्दुयुगीन साहित्यकार परिवर्तन की आहटों को पहचान रहे थे । भारतेन्दुकालीन समाज में किसी बड़े राष्ट्रीय आन्दोलन की अपेक्षा समाज-सुधार आन्दोलन अधिक मुखरता से सामने आए। लगभग इसी समय 19वीं शताब्दी के अन्तिम दशक से स्त्री-मुक्ति संघर्ष का प्रारम्भ होता है। समाज में स्त्री की समस्या का केवल निवारण ही नहीं अपितु उसका सामाजिक स्थान निर्धारित करना इस संघर्ष का उद्देश्य था। डॉ0 वीरभारत तलवार इस संबंध में लिखते है -

''भारत में स्त्री आंदोलन की असली शुरुआत 19वीं सदी के आखिरी दशकों में हुई जब पंडिता रमाबाई, रमाबाई रानाडे, आनंदी जोशी, फ्रानना सोराबजी, एनी जगन्नाथ और रुक्माबाई जैसी औरतें पुरुषप्रधान समाज द्वारा थोपे गए बन्धनों को तोड़कर ऊँची शिक्षा के लिए विदेश गयीं और लौटकर उन्होंने भारत में स्त्रियों के आन्दोलन को आगे बढ़ाया । पहली बार स्त्रियों के स्वतंत्र संगठन कायम हुए । 1886 में स्वर्ण कुमारी देवी ने लेडीज एसोसिएशन कायम किया। 1892 में पण्डिता रमाबाई ने स्त्रियों की शिक्षा और रोजगार के लिए पूना में 'शारदा सदन' खोला।''[1] पत्र-पत्रिकाओं में स्त्रीवादी लेख छपने शुरू हुए ।

स्त्री जागरूकता की इस लहर के बीच 1882 ई0 जिला मिरजापुर, उत्तर प्रदेश में राजेन्द्र बाला घोष का जन्म हुआ, जिन्हें हिन्दी साहित्य की प्रथम महिला लेखिका के रूप में जाना जाता है। राजेन्द्र बाला घोष हिन्दी में बंग महिला के नाम से लिखती थी।

बंग महिला के पूर्वज चंदन नगर के पास खोलसिना गाँव के मूल निवासी थे। बंग महिला के पितामह रामराम घोष थे और इनकी मातृभाषा पूर्वी बंगला । 1785ई0 में लार्ड कार्नवालिस ने बनारस के इलाके में इस्तमरारी बन्दोबस्त लागू किया तो रामराम घोष अपने भाइयों के साथ, जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी में नौकर थे, मिरजापुर आ गए । रामराम घोष मिरजापुर में वकालत करने लगे । उनके पुत्र रामप्रसन्न घोष के घर राजेन्द्रवाला घोष का जन्म हुआ। राजेन्द्र बाला घोष अपने परिवार की पहली संतान थी, उनका लालन-पालन बड़े प्यार से होने लगा। राजेन्द्र बाला के जन्म के पश्चात् उनके चारों भाइयों का जन्म हुआ। वे अपने घर की अकेली बालिका थी, स्वाभाविक ही माँ के साथ उनका स्नेह-संबंध दिन-प्रतिदिन प्रगाढ़ होने लगा। रामप्रसन्न घोष रईस जमींदार होने के साथ-साथ शिक्षित व प्रगतिशील विचारों के भी थे। वे उच्च शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। रामप्रसन्न घोष ने अपने सभी बच्चों को यथायोग्य शिक्षा दी। अपने जिले मिरजापुर की मेंयो लायब्रेरी में वे अधिकारी पद पर थे। इसी लायब्रेरी से बाद में बंगमहिला ने साहित्यिक पुस्तकें पढ़ीं। रामप्रसन्न घोष के चारों पुत्र स्नातक थे व अच्छे सरकारी पदों पर आसीन थे।

राजेन्द्र बाला घोष का बचपन सांस्कृतिक वातावरण में गुजरा। उनका घर गंगा घाट के समीप था जहाँ से उन्हें विभिन्न जातीय व भाषायी भिन्नता एवं संस्कारों को देखने व समझने का अवसर मिलता रहता था। राजेन्द्रबाला घोष की विधिवत् शिक्षा प्राथमिक स्तर तक ही रही। तत्कालीन पर्दाप्रथा और शिक्षासंबंधी अंधविश्वासों के चलते वे विद्यालय नहीं जा सकीं, घर पर ही उनकी शिक्षा हुई।

बंगमहिला की पहली गुरू उनकी माँ थी। माँ व पिता से ही उन्होंने अक्षर-ज्ञान प्राप्त किया। वे स्वयं लिखती हैं -''मुझे जो शिक्षा मिली वह मेरी पूजनीया जननी देवी और परम पूज्य पिता द्वारा ही।''[2] पंडित केदारनाथ पाठक राजेन्द्रबाला घोष के बचपन के मित्र थे। राजेन्द्रबाला घोष के पिता ने पाठक जी के पिता से ही मकान किराये पर लिया था। दोनों बालक एक साथ बैठकर पढ़ते थे। कभी-कभी रामप्रसन्न घोष उनकी जिज्ञासाओं को भी एक साथ दूर करते जाते । पाठक जी के साथ रहते हुए राजेन्द्रबाला ने हिन्दी सीखी और पाठक जी ने उनके सानिध्य में बंगला भाषा का ज्ञान प्राप्त किया। राजेन्द्रबाला घोष मेयो लायब्रेरी से अक्सर पुस्तकें मंगाकर पढ़ती थी। यही अध्ययन-मनन बाद में उनके लेखन का आधार भी बना ।

रामप्रसन्न घोष उच्चशिक्षित व प्रगतिशील विचारों के व्यक्ति थे किन्तु घर की स्त्रियों को उन्होंने परदे में ही रखा। बंग महिला के लिए घर से बाहर निकलना सुलभ न था। उनकी कार में भी परदे लगे हुए थे। घर आए पुरुष मेहमानों से उनकी माता व वे स्वयं परदे की ओट से ही बात-चीत करती थी। धीरे-धीरे राजेन्द्रबाला के मन व मस्तिष्क में यही अनुभव स्थान बनाते गए। वे सोचती कि उन लड़कियों व स्त्रियों की दशा कैसी दयनीय होगी जिन्हें उनकी जितनी सुविधाएँ भी नहीं है। समय के साथ वंगमहिला अन्य लड़कियों की तरह सिलाई, गृहकार्य व संगीत आदि की शिक्षा भी लेती रही।

1893ई0 में बंगमहिला का विवाह छपरा निवासी पूर्णचन्द्र डे से हो गया। उस समय बंग महिला केवल 11 वर्ष की थी। रामप्रसन्न घोष उस समय 'जार्डिन एण्ड स्कीनर' कम्पनी में कार्यरत थे। पूर्णचन्द्र डे की नौकरी भी उन्होंने अपने साथ ही उसी कम्पनी में लगवा दी। बंगमहिला के ससुराल पक्ष में सदस्यों की संख्या अधिक थी। पूर्णचन्द्र डे कई भाई थे। सम्भवत: इसी कारण पू0चिन्द्र डे विवाह के पश्चात् राजेन्द्र बाला के ही घर में रहने

लगे। बंगमहिला अपने पिता के परिवार के लिए शुभ थी, घर की आर्थिक स्थिति बेहतर होती चली गयी। 1899 में रामप्रसन्न घोष ने सुन्दर घाट पर एक मकान खरीद लिया और चार साल बाद काशी में नई सड़क पर एक और मकान खरीदा।

1894ई0 में केदारनाथ पाठक काशी आ चुके थे। 1890ई0 से केदारनाथ जी ने प्रेमधन जी की पत्रिका 'आनन्द कादम्बिनी' में कार्य प्रारम्भ कर दिया। तीन वर्षो तक 'आनन्द कादम्बिनी' में कार्य करने के बाद 1894 में वे 'नागरी प्रचारिणी सभा' के पुस्तकालयाध्यक्ष बन गए । 1899 के बाद से बंग महिला भी बीच-बीच में काशी आकर रहने लगी। बंगमहिला व केदारनाथ पाठक के पारिवारिक संबंधों के कारण, बंगमहिला का परिचय अन्य साहित्यकारों से होने लगा। नागरी प्रचारिणी सभा के प्रथम अधिवेशन में बंग महिला ने अपनी कविता का पाठ किया। धीरे-धीरे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में बंग महिला के लेख छपने लगे।

बंग महिला अपने परिवार के साथ सुख व शान्ति से जीवनयापन कर रही थी। पर कहते है, नियति का चक्र सदैव समान नही चलता ।

1909ई0 में उनके पिता रामप्रसन्न घोष की मृत्यु हो गयी । यह वह समय था जब बंगमहिला अपनी लेखनी में गति पकड़ रही थी। पिता की मृत्यु एक बड़ा हृदयाघात था जिसने उनके आत्मविश्वास को हिला दिया। राजेन्द्र बाला काशी से अपने परिवार के पास मीरजापुर लौट आयी। माँ को सहारा दिया और भाईयों की जिम्मेंदारी स्वयं उठा ली। अपने घर लौटकर जमीन व घर दोनों को एक कुशल उत्तराधिकारी की तरह संभाल लिया किन्तु फिर बहुत समय तक बंगमहिला लिख नही पायी। अपने पिता से उन्होंने आत्मविश्वास का पहला पाठ सीखा था।

कहा जाता है कि मीरजापुर में सुंदरघाट वाले मकान को लेकर बंगमहिला की माता के मन में यह बात बैठ गयी कि यह मकान उनके परिवार के लिए शुभ नही है। रामप्रसन्न घोष की मृत्यु के कुछ समय पश्चात् बंगमहिला के पुत्र

की मृत्यु भी उसी मकान में हो गयी। पिता के बाद पुत्र की असमय मृत्यु ने बंगमहिला को शक्तिहीन सा बना दिया माँ के आग्रह पर उन्होंने 1912 ई0 में मीरजापुर में ही दूसरा नया मकान ले लिया और सब वहीं रहने लगे। काल के प्रहार को नियति मानते हुए अपनी कर्मठता से बंगमहिला ने धीरे-धीरे परिस्थितियों से उबरना शुरू किया। किन्तु बंगमहिला के साथ नियति क्रूरता पर उतर आयी थी।

1917 में राजेन्द्रबाला के पति की मृत्यु हो गयी अभी वे पिता व पुत्र के दु:ख व शोक से व्यवस्थित भी नहीं हो पायी थी कि जीवन भर का साथी छूट गया। 35 वर्ष की आयु में वैधव्य की पीड़ा उन्हें भीतर तक हिला गयी। बंगमहिला के जीवन की धुरी हट गयी और उनका जीवन अस्त व्यस्त हो गया। वे संसार से पूर्णतया विरक्त हो उठी। माता व पुत्री दोनों विधवा जीवन के कठोर नियमों का पालन करने लगी। भवदेव पाण्डे उनके विधवा जीवन के बारे में लिखते हैं, "बंगमहिला के लिए वैधव्य आचरण का रास्ता बना बनाया मिला उसी आदर्श के अनुकूल कमर तक लहराने वाले बालों .को चार-चार अंगुल कर लिया, न तेल, न कंघी। देह पर से रंगीन परिधान उतर गए, जापानी मारकीन की धोती और उसी की सादी कुर्ती। सिर से पांव तक, सुबह से शाम तक सादगी ही सादगी। विधवा होने के बाद ये एक वक्त खाने लगी और दोनों वक्त पूजा करने लगी। गंगा स्नान में कठोर नियमितता आ गयी।"[3]

20वीं सदी के प्रारम्भ में विधवा जीवन की यह स्थिति सिहरा देने के लिए काफी है। बंगमहिला ने उन सभी मर्यादाओं का पालन किया जो उस समय विधवाओं के लिए निश्चित थी वे नियम कितने अमानवीय थे इस पर प्रश्न भी उठे किन्तु उस समय तो उनका पालन न करना घोर चरित्र हीनता का पर्याय माना जाता था।

बंगमहिला के हर दु:ख के समय केदारनाथ पाठक उनके साथ रहे। समय-समय पर वे उनकी साहित्यिक रुचि को उभारने में कामयाब भी रहे, किन्तु इस बार उन्हें कई वर्षो तक प्रतीक्षा करनी पड़ी।

1922 ई0 में अतंत एक बार फिर बंगमहिला साहित्य की ओर मुड़ गयी और साथ ही उनका पूजा पाठ भी चलता रहा। बंगमहिला पर पड़े दु:खों व आघातों ने उन्हें अति संवेदनशील बना दिया था। साहित्य के साथ-साथ वे सामाजिक कार्यो में भी रूचि लेने लगी। अपने व्यक्तिगत जीवन की विडंबना और पराए दु:खों को साथ मिलाकर उन्होंने एक संतुलित सेतु बना लिया, जिससे उनमें फिर से जीने की इच्छा शक्ति जागृत हुई। बंगमहिला द्रढ़ मनोबल और जिजीविषा की साक्षात् मूर्ति बन गयी थी। सन् 1932 में मीरजापुर में उनके आतिथ्य में हुए बंगाली समाज सम्मेलन में उन्होंने फिर से नारी शिक्षा और स्वाभिमान की आवश्यकता पर बल दिया। बंगमहिला ने सभा में कहा कि स्त्रियों के सक्रिय सहयोग के बिना लड़ा ·जाने वाला स्वतंत्रता संग्राम अधूरा रहेगा।

1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के समय बंगमहिला काशी में ही थी। शायद काल ही उन्हें काशी तक बुला लाया था। एक दिन सुबह वे नियमानुसार गंगा स्नान के लिए गयी और एक बलशाली सांड़ ने उन्हें अपने सींगों से घायल कर दिया उस हादसे में बंगमहिला के पैर की हड्डी टूट गयी उम्र का तकाजा था या भाग्य का, उनका वो घाव कभी ठीक नहीं हुआ और बंगमहिला की स्थिति बिगड़ती ही गयी। बंगमहिला के भाई उन्हें घर मीरजापुर ले गए। अंतत 24 फरवरी 1949 को वे काल कवलित हो गयी।

बंगमहिला एक स्थिर चित्त वाली महिला थी। भवदेव पाण्डे खिते हैं, "हालांकि उनके जीवन में अन्तिम दो वर्ष बड़े त्रासद रहे फिर भी न वे काल

की क्रूरताओं से डरी थी और न ही नियति की विपरीतताओं से ऊबी ही थी। जिंदगी के बाकी बचे दिनों को सहजतापूर्वक ढोते हुए उपराम बनी रहती।"[4]

बंगमहिला के पूरे जीवन में भाग्य उनकी परीक्षा लेता रहा और समाज उन्हें अपनी शर्तों पर परखता रहा, किन्तु उस समय स्त्री जन्मा होकर भी दोनों के साथ वे जिस साहसिकता और निर्भीकता से जूझती रही वह आज भी दुर्लभ है। बंगमहिला के साहित्यिक जीवन पर उनके व्यक्तिगत दु:खों व आघातों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। उनका लेखन कार्य पिता, पुत्र व पति की मृत्यु व शोकाग्रस्त मानसिक स्थिति के कारण अवरूद्ध होता रहा।

बंगमहिला का पहला लेख 1904 में प्रकाशित हुआ था। अत: उनका लेखन समय 1904 से ही माना जाता है। हिन्दी में राजेन्द्रबाला घोष लेखक के रूप में अपना असली नाम न देकर छद्म नाम 'बंगमहिला' का प्रयोग करती थी। बंगला कविताओं के लिए 'कोनो प्रवासिनी बंगमहिला' नाम प्रयोग किया। केवल राजेन्द्रबाला ही नहीं उस समय के कई अन्य साहित्यकारों की यह प्रवृत्ति थी। गिरिजा कुमार घोष ने पार्वतीनंदन नाम से 'बिजली' (1904) 'मेरी चंपा' (1905) कहानियां लिखी। मधुरेश 'हिन्दी कहानी का विकास' नामक अपनी किताब में छद्म नाम के प्रयोग का कारण तत्कालीन समाज में कहानी के प्रति पेक्षित रवैये को मानते हैं। वे लिखते हैं - "यह वस्तुत: वह दौर है जब कहानी को एक स्वतंत्र विधा के रूप में दोहरी लड़ाई लड़नी पड़ती है यह लड़ाई एक ओर उसके अस्तित्व की है और दूसरी ओर उसकी प्रतिष्ठा की, सामाजिक प्रभाव की दृष्टि से कहानी को न सिर्फ उपेक्षणीय बल्कि युवाओं को बिगाड़ने वाली चीज माना जाता था यही कारण है कि श्रीमती राजेन्द्रबाला घोष को अपना वास्तविक नाम छिपाकर बंगमहिला के नाम से कहानी लिखनी पड़ी।"[5] बंगमहिला के असली नाम से न लिखने कारण यह भी हो सकता है कि उस समय स्त्रियों को उनमुक्त अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता नहीं थी।

राजेन्द्रबाला घोष ने चाहे छद्म नाम का प्रयोग किया, किन्तु उनके लेखों का तीखापन उनके निडर व्यक्तित्व को उजागर करता है। स्त्रियों की समस्याओं पर तथा स्त्रियों के शोषण के खिलाफ वे लिखती थी। इसके अतिरिक्त उनके लेखन का विषय साहित्य संबंधी अवधारणाएं, उनका खण्डन और कुछ ज्ञानवर्धक जानकारी भी रही।

बंगमहिला की तीव्र आलोचनात्मक दृष्टि का पता उनके सबसे पहले लेख से ही पता चलता है। 1904 में 'हिन्दी के ग्रंथकार' लेख 'समालोचक' पत्रिका में प्रकाशित हुआ। प्रकाशित होते ही यह लेख हिन्दी साहित्यकारों में विवाद का विषय बन गया, उक्त निबंध में हिन्दी साहित्यकारों पर यह आक्षेप लगाया गया कि वे अपनी रचनाओं में बंगला व अंग्रेजी कृतियों की नकल किया करते हैं। लेख में ऐसी कृतियों व कृतिकारों का नाम सहित उल्लेख भी किया था। फलस्वरूप इस लेख की तीखी प्रतिक्रिया हुई। यह निर्भीकता सर्वत्र बहस का विषय बन गयी क्योंकि लेखिका स्त्री थी और स्त्री होकर इस कदर मुखर होना कई लेखकों व पत्रिका संपादकों के अहं से टकरा गया। हिन्दी लेखकों ने इसे हिन्दी भाषा को नीचा दिखाने की बंगला साहित्यकारों की योजना बताया। कुछ लेखकों ने उन्हें स्त्रीनामधारी कोई पुरुष कहा। इस सबके बावजूद 'हिन्दी के ग्रंथकार' बंग महिला का चुनौती भरा महत्त्वपूर्ण लेख है। बंगमहिला न तो आक्षेपों से विचलित हुई और न ही उन्होंने आगे अपने लेखन में मुखरता को कम होने दिया।

1904 ई0 में ही 'सरस्वती' पत्रिका में बंगमहिला का एक अन्य निबंध 'चन्द्रदेव से मेरी बातें' प्रकाशित हुआ। 'सरस्वती' के संपादक पद पर उस समय महावीर प्रसाद द्विवेदी जी थे। 'चन्द्रदेव से मेरी बातें' उपालंभ शैली में लिखा गया निबंध है जो धीरे-धीरे व्यंग्य का रूप लेता है। 'चन्द्रदेव से मेरी बातें' में चन्द्रदेव रोज आकाश में चमकने वाले चन्द्रमा है और सम्बोधित करने वाली श्रीमती

बंगमहिला है। एकतरफा बातचीत के माध्यम से लेखिका ने तत्कालीन अंग्रेजी शासन और उसके कारण देश के बदतर हालातों पर व्यंग्य किया है। लेख में एक स्थान पर चन्द्रदेव को सम्बोधित करते हुए वे अंग्रेजों की भेदभाव वाली काले गोरे की नीति पर व्यंग्य करती है - "अच्छा, यदि आपको अंग्रेज जाति की सेवा स्वीकार हो तो, एक एप्लिकेशन हमारे आधुनिक भारत प्रभु लार्ड कर्जन के पास भेज देंवें। आशा है कि वे आपका आदरपूर्वक आवाहन करेंगे क्योंकि आप तो अधम भारतवासियों की तरह कृष्णांग तो है ही नहीं जो आपको अच्छी नौकरी देने में उनकी गौरांग जाति कुपित हो उठेगी।"[6] एक अंश से ही पता चल रहा है कि देश की गुलामी के अपमान का दंश किस प्रकार बंगमहिला में अन्तर्भूत है। बंगमहिला देश की पीड़ा से अछूती नहीं थी।

1905 ई0 में बंगमहिला का एक अन्य निबंध 'जोधाबाई' 'सरस्वती पत्रिका' में प्रकाशित हुआ। यह चरित्रप्रधान लेख है। जोधाबाई इतिहास की महिला पात्र है। इतिहास में दो जोधाबाई का उल्लेख मिलता है - एक मालदेव की राजकन्या और दूसरी बीकानेर की राजकुमारी। सुधाकर पाण्डेय ने 'बंगमहिला ग्रंथावली' में उक्त लेख की भूमिका में लिखा है कि पाठक दोनों ऐतिहासिक चरित्रों को एक ही मानने की भूल न करें। बंगमहिला ने अपने लेख में दोनों जोधाबाई नामक चरित्रों का परिचय दिया है। उन्होंने स्वयं ही लेख में लिखा भी है जोधाबाई मारवाड़ के राजा मालदेव की लड़की और उदयसिंह की बहिन थी बहुतेरे जोधाबाई को और जहाँगीर की बेगम जोधाबाई (बीकानेर की राजकुमारी) को एक ही समझते हैं। यह उन लोगों की भूल है इस प्रबंध को पढ़ने से यह भ्रम जाता रहेगा। यह निबंध मुगल शासन में हिंदू स्त्रियों की असहाय दशा को भी रेखांकित करता है। किस प्रकार हिंदू राजा, संधिप्रस्ताव के लिए या मुगल राजा को खुश करने के लिए अपनी हिंदू कन्याओं को उनकी असंख्य रानियों में शामिल कर देते थे। दोनों जोधाबाई, अकबर और जहाँगीर की बेगम थी।

1906 ई0 में बंगमहिला के दो लेख 'गृहचर्या' और 'स्त्रियों की शिक्षा' प्रकाशित हुए। 'गृहचर्या' निबंध गृहशास्त्र से संबंधित हैं, यह 'बनिता विनोद' में प्रकाशित हुआ। 'गृहचर्या' में गृहव्यवस्था, शिक्षा, लोगों से व्यवहार आदि के बारे में लिखा है। 'गृहचर्या' निबंध बंगमहिला के प्रारम्भिक लेखों में से है। उक्त लेख में स्त्रियों को सतीत्व का पालन करने और मर्यादा के अनुकूल आचरण करने का उपदेश दिया है। पुरुषों की पति परमेश्वर वाली छवि को ही लेख से बल मिलता है। 'गृहचर्या' लेख से कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य है, "अज्ञात अवस्था में अर्थात् बाल्यावस्था, जिस समय अपने हित अनहित विचार करने की सामर्थ्य नहीं रहती, उस समय माता पिता जिसके हाथ उसे अर्पण कर देते है, चाहे वह सरूप हो, चाहे कुरूप, धनी हो चाहे निर्धन स्त्री के लिए वही देवता है। सती साध्वी स्त्रियां पति के सुख से निजसुख, पति के दु:ख से निजदु:ख पति के जीवन से अपना जीवन और पति की मृत्यु से निज मृत्यु समझती है।"[7] लेख में सर्वत्र इसी तरह के भाव हैं स्त्रियों को कम बोलने, न हंसने और प्रत्येक परिस्थिति में सहिष्णु बनने की शिक्षा दी है नारी स्वाधीनता की समर्थक बंगमहिला के ये विचारे पुरातनपंथी हैं। किन्तु अपने लेखों में उन्होंने नारी शिक्षा का भी प्रबल समर्थन किया।

'स्त्रियों की शिक्षा' लेख 1906 में बनिता विनोद में प्रकाशित हुआ। इस लेख में स्त्रियों की शिक्षा की उपयोगिता के बारे में बताया गया है। स्त्री की शिक्षा में आने वाली बाधाएँ और उनका निवारण भी प्रस्तुत किया है। बंगमहिला का मानना है कि शिक्षा द्वारा ही स्त्रियों में आत्म विश्वास व स्वाभिमान का संचार हो सकता है। घर के काम का हिसाब किताब रखने, पत्र पढ़ने, आय व्यय के खर्च का हिसाब रखने व पुत्रों को पढ़ाने इत्यादि घरेलू कामों को वे स्वयं सक्षमता से कर सकती है।

1907 में इन लेखों के बाद बंगमहिला की कहानी प्रकाशित हुई। 'सरस्वती' पत्रिका में उनकी प्रसिद्ध कहानी 'दुलाईवाली' का प्रकाशन हुआ। दुलाईवाली कहानी दो मित्रों की विनोदपूर्ण घटना पर आधारित है। कहानी के माध्यम से तत्कालीन सामाजिक वातावरण के द्वारा यथार्थ को जीवंत किया गया है। पात्रों के कार्यकलापों, संवादो व आत्मकथनों द्वारा पूरा मध्यवर्गीय समाज कहानी में सजीव हो उठता है। एक अकेली स्त्री की निस्सहायता का चित्रण तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप किया है। सुधाकर पाण्डेय 'दुलाईवाली' कहानी को हिन्दी की प्रथम यथार्थवादी कहानी मानते हैं। वे लिखते हैं - "यथार्थवादी धरातल पर सारे चरित्रों का वर्णन किया है और वे चरित्र काल्पनिक नहीं है, अपितु सजीव जीवंत और जागृत समाज के हैं। बीसवीं शती के प्रारम्भ में जो आचार विचार चाल चलन व्यवहार समाज में प्रचलित थे वे सजीव रूप में तथ्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किए गए हैं।"[8] सुधाकर पाण्डेय का मानना सही है 'दुलाईवाली' अपने वातावरण व देशकाल चित्रण में एक यथार्थवादी कहानी है। कहानी में व्यंग्य, विनोद, कौतूहल आदि तत्त्व व कहानी की नाटकीयता इसे आधुनिक कहानी बनाते हैं। उस समय में कहानी के नाम पर होने वाली किस्सागोई से यह कहानी कही अधिक सार्थक व स्पष्ट है। 'दुलाईवाली' हिन्दी साहित्य की शुरू की चार मौलिक कहानियों में से एक है जैसा कि शुक्ल जी 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखते हैं "इनमें यदि मार्मिकता की दृष्टि से भाव प्रधान कहानियों को चुने तो तीन मिलती हैं- 'इन्दुमती' किसी बांग्ला कहानी की छाया नहीं है, तो हिन्दी की पहली मौलिक कहानी ठहरती है। इसके उपरांत 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'दुलाईवाली' का नम्बर आता है।"[9]

1908 में बंगमहिला की दूसरी कहानी 'भाई-बहन' 'बाल प्रभाकर' पत्रिका में प्रकाशित हुई। यह कहानी स्वदेशी भाव पर लिखी गयी है कि किस प्रकार बचपन में सुनी व अनुभव की गयी घटनाओं का बालकों के मानसिक विकास पर असर पड़ता है। कहानी में दो छोटे भाई-बहन से बड़े भाई का

स्वदेशी वस्तुओं के प्रति प्रेम का संदेश, छोटे भाई के मन पर बहुत प्रभाव डालता है। यही मानसिकता बड़े होने पर विदेशी के बहिष्कार में रचनात्मक भूमिका निभाता है। बंगमहिला वैचारिक स्तर पर राष्ट्रीय आंदोलन से भी जुड़ी रही हैं। 'भाई-बहन' कहानी व 'चन्द्रदेव से मेरी बातें' लेख उनके राष्ट्रप्रेम की ही अभिव्यक्ति हैं।

सन् 1908 में 'सरस्वती' में बंगमहिला का स्त्री संबंधी लेख 'हमारे देश में स्त्रियों की दशा' प्रकाशित हुआ। इस निबंध में स्त्रियों की पराधीनता पर प्रहार किए गए हैं। परदा प्रथा को नारी विकास में सबसे बड़ा बाधक माना है। इस लेख में वे लिखती हैं, "परदे वाली स्त्रियों को कभी स्वाधीनता नहीं मिल सकती। इसी कारण से उन्हें शिक्षा भी नहीं मिलती।"[10] इसके अतिरिक्त स्त्री शिक्षा से जुड़े धार्मिक अंध विश्वासों का भी उन्होंने कड़ा विरोध किया। स्त्री के शिक्षित होने से उसके विधवा हो जाने का जो अंधविश्वास पुरुषों ने उस समय फैलाया वह पुरुष अहं और स्वार्थ का उदाहरण है। स्त्रियों के शिक्षा ग्रहण करने से वे अपने अधिकारों के प्रति अधिक जागरुक होती, और यह पुरुष सत्ता के एकाधिकार के लिए एक चुनौती थी। 'हमारे देश की स्त्रियों की दशा' लेख में हिंदू नारी की विवशता व परवशता की स्थिति का खुलासा किया है। यह लेख 1908 में 'सरस्वती' में 'निवेदन' शीर्षक से प्रकाशित हुआ, और रामचन्द्र शुक्ल द्वारा संपादित 'कुसुम संग्रह' में 'हमारे देश की स्त्रियों की दशा' शीर्षक से संकलित है।

1915 ई0 में बंगमहिला की कहानी 'हृदय परीक्षा' प्रकाशित हुई। 'सरस्वती' के मई अंक में इसका प्रकाशन हुआ। दाम्पत्य संबंधों पर आधारित यह कहानी समाज में व्यवहारिक ज्ञान का उद्घाटन करती है। अहं के साथ प्रेम का निर्वाह नहीं है। विश्वास व आदर ही मधुर संबंधों को गति देते हैं। 'हृदय परीक्षा' में दामाद के उसकी ससुराल से संबंधों व उनके खिंचाव का स्वाभाविक चित्रण है।

कहानी का शिल्प - हास्य व्यंग्य व कौतूहल से भरा है। 1915 में ही बंग महिला का गृहशिक्षा से संबंधित एक लेख 'संगीत और सुई का काम' कन्या मनोरंजन में प्रकाशित हुआ। 'कन्या मनोरंजन' पत्रिका उस समय लगभग सभी उच्चवर्गीय परिवारों में पढ़ी जाती थी। 1914 से ही इसका प्रकाशन आरम्भ हुआ था। बंगमहिला के अतिरिक्त इस पत्रिका में पं0 श्रीधर पाठक, श्रीमान् गिरिजा कुमार घोष, श्रीमती राम दुलारी दुबे बंबई की जैन महिला परिषद् की मंत्री श्रीमती मगन बाई आदि लेखक लेखिकाएँ भी कहानियाँ व लेख लिखते थे। संगीत का महत्त्व बताते हुए बंगमहिला इस लेख में मनबहलाव व मानसिक शक्ति के विकास के लिए संगीत को उत्तम मानती है। सूई से उनका तात्पर्य घर के कपड़ों को स्वयं सिलने की कला से है जिससे पैसे व समय दोनों की बचत होती है। आर्थिक विपन्नता के दिनों में सिलाई-कढ़ाई की विधा आय में सहायक हो सकती है। बंगमहिला जीवन में संगीत व सुई दोनों का प्रयोजन सिद्ध करती है - "जैसे मन बहलाव और आमोद-प्रमोद के लिए संगीत आवश्यक है, वैसे ही स्त्रियों के लिए अन्य ऐसी बातों का जानना भी आवश्यक है जिनकी जरूरत गृहस्थी में नित पड़ा करती है। ऐसे कामों में सीना व सुई का काम बड़ा प्रयोजनीय समझा जाता है।"[11] उक्त लेख में बतायी गयी है।

'गृहचर्या', 'स्त्रियों की शिक्षा', 'हमारे देश की स्त्रियों की दशा' व 'संगीत और सुई का काम' क्रमशः कालक्रमानुसार बंगमहिला के स्त्री विषयक विचारों का खुलासा करते हैं। बंगमहिला ने एक ओर जहाँ स्त्री शिक्षा व स्वाधीनता को समर्थन दिया है तो दूसरी ओर प्रत्येक स्थिति में पतिव्रता और सहिष्णु बने रहने का उपदेश भी दिया है। बंगमहिला के लेखों में उपदेशात्मक प्रवृत्ति उनके विद्रोही स्वरों पर भारी पड़ती है। 20वीं शती के प्रारम्भिक दौर को देखते हुए कहा जा सकता है कि यह या तो बंगमहिला के समय की सीमा थी अथवा उनके परिवारगत व परिवेशगत गूढ़ संस्कार जो वे रूढ़ियों का खुला विद्रोह नहीं कर

सकी। इस सबके बावजूद बंगमहिला में स्वतंत्रता की उत्कट इच्छा तो थी ही चाहे वह देश की स्वतंत्रता हो अथवा व्यक्तित्व की स्वतंत्रता।

बंगमहिला की मौलिक रचनाओं के साथ ही उनकी अनूदित रचनाएं भी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही। बंगमहिला हिन्दी के साथ बंगला साहित्य से भी भली-भांति परिचित थी। बंगला भाषा से तो वे बचपन से जुड़ी हुई थी कई बंगला रचनाओं का उन्होंने हिन्दी में अनुवाद भी किया। किसी रचना में तो उन्होंने ऐसा भावानुवाद किया है कि वह रचना बंग महिला की मौलिक रचना ही प्रतीत होती है।

1904 में 'हिन्दी के ग्रंथकार' निबंध के साथ ही बंगमहिला के बंगला से अनूदित निबंध 'नीलगिरि पर्वत के निवासी टोडा लोग' और 'अण्डमान द्वीप के निवासी' 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हुए। दोनों लेखों के मूल लेखक श्रीयुत् रामानंद चट्टोपाध्याय हैं। लेख में टोडा जाति के लोगों के रहन-सहन रीति-रिवाजों का वर्णन किया है। अण्डमान द्वीप की जलवायु व भौगोलिक सीमाओं के साथ वहाँ रहने वाले लोगों के जनजीवन का विस्तृत वर्णन किया है। ये 'सरस्वती' के एक ही अंक में क्रमशः पहले और बाद के पृष्ठों पर प्रकाशित हुए थे।

'तिल से ताड़' एक जासूसी कहानी है यह कहानी मूलतः बंगला में लिखी गयी, इसके लेखक देवेन्द्रकुमार राय हैं। 1906 तक यह हिन्दी में पुस्तक रूप में प्रकाशित हो चुकी थी। इसका बंगला से अनुवाद बंग महिला ने किया था। बी. एम. एण्ड सन्स ने इसका प्रकाशन किया। 'तिल से ताड़' की कहानी हत्या के षड्यंत्र तक पहुंचने की कहानी है। किस प्रकार बड़े भाई की हत्या छोटे भाई ने जायदाद के लालच में की और कैसे वह पकड़े गए, यही इस कहानी में, जासूसी ढंग से दिखाया है। कहानी 'मै' शैली में लिखी गयी है जो उस समय ऐसी जासूसी कहानियों में प्रायः प्रयोग में लायी जाती थी।

सन् 1906 में 'भारतेंदु' पत्रिका के अप्रैल अंक में 'पति सेवा' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ। 'पतिसेवा' बंगमहिला का बंगला से अनूदित लेख है। इसकी मूल लेखिका लावण्यप्रभा सरकार है। उक्त लेख में पति को प्रसन्न रखने के लिए भिन्न सेवा प्रकारों का वर्णन किया गया है। लेख का प्रारम्भ सत्यभामा और द्रौपदी के संवाद से प्रारम्भ होता है। इसमें स्त्रियों के पतिव्रत धर्म का पालन करने पर बल दिया है।

1906 में ही 'सरस्वती' पत्रिका में बंगमहिला की कहानी प्रकाशित हुई 'कुंभ में छोटी बहू' यह कहानी बंगमहिला की माता नीरदवासिनी घोष द्वारा बंगला भाषा में लिखी गयी थी। इस कहानी का हिन्दी अनुवाद बंगमहिला ने किया। कहानी की लेखिका पर विवाद हैं। विद्वानों में मतभेद है कि यह कहानी नीरदवासिनी ने लिखी है अथवा स्वयं बंगमहिला ने। सुधाकर पाण्डे ने माना है कि यह कहानी नीरदवासिनी घोष द्वारा ही लिखी गयी है। यह मानने का कारण है कि 1906 में 'कुंभ में छोटी बहू' के प्रकाशन के समय स्वयं बंगमहिला ने पादटिप्पणी में इसे अपनी माता द्वारा लिखित बताया है। किन्तु यह विवादास्पद ही रहा कि यह कहानी राजेन्द्रबाला घोष की है अथवा नीरदवासिनी घोष की। बंगमहिला द्वारा दी गयी पाद टिप्पणी इस प्रकार है- "मेरी पूजनीया जननी श्रीमती नीरदवासिनी घोष रचित बंग भाषा के गल्प का अनुवाद।" इस टिप्पणी को शुक्ल जी ने यथावत् स्वीकार कर लिया और कहानी को नीरदवासिनी द्वारा लिखित ही माना। शुक्ल जी द्वारा मान्य होने पर यह कहानी सर्वत्र अनूदित ही मान ली गयी। 'बंगमहिला : नारी मुक्ति का संघर्ष' के लेखक भवदेव पाण्डेय के अनुसार 'कुंभ में छोटी बहू' बंगमहिला की मौलिक कहानी है। केवल मां के प्रति श्रद्धावश बंगमहिला ने प्रकाशन के समय पाद टिप्पणी में ऐसा लिखा था। एक बात और भी है नीरदवासिनी ने अक्षर ज्ञान तक ससुराल में आकर सीखा, वे उस स्तर तक शिक्षित ही नही थी कि कहानी लिख सके। भवदेवपाण्डे लिखते हैं - "बंगमहिला

ने अपनी माता को अमर करने की इच्छा से ही इस कहानी के प्रकाशन के समय पादटिप्पणी लगा दी थी और 'हस्तलिखित रूपी चातुर्य का सहारा लिया था। आगे चल कर यह प्रति किसी को भी नहीं मिली पं0 केदारनाथपाठक को भी नहीं जो सम्पूर्ण प्रदेश में हस्तलिखित रचनाओं की तलाश में भटकते रहे।"[12] यह सही है कि 'कुंभ में छोटी बहू' मूल रचना के रूप में प्राप्त नहीं हो सकी जबकि केदारनाथ जी का बंगमहिला से घरेलू संबंध था। केवल बंगमहिला द्वारा किया गया उसका हिन्दी अनुवाद ही उपलब्ध है। यहाँ सवाल यह भी उठता है कि यदि नीरदवासिनी घोष कहानीकार थी तो कोई अन्य कहानी उनकी लिखी हुई प्रकाश में क्यों नहीं आयी? एक ही कहानी के बाद लिखना बंद क्यों कर दिया? किसी बंगाली पत्रिका में उनकी 'कुंभ में छोटी बहू' या कोई अन्य कहानी प्रकाशित नहीं हुई।

जबकि दूसरी ओर कहानी का कथ्य इतना परिपक्व व बनावट इतनी सशक्त है कि वह किसी कहानीकार की सर्वप्रथम रचना नहीं जान पड़ती। कहानी का शिल्प, शब्द चुनाव व वाक्यों की बनावट बंगमहिला के कहानी शिल्प से बहुत मिलते हैं। 'कुंभ में छोटी बहू' के शिल्प पर गौर किया जाए तो ऐसे मुहावरों और क्षेत्रीय बोली के शब्दों का प्रयोग है, जिनका मूल हिन्दी की कहानी में हो सकता है। कहानी में बंगाली भाषिक प्रवृत्ति कहीं भी नहीं है। भोलवा की महतारी' 'तोहरे पंच के गोड़ लले पड़त है' आदि वाक्य ठेठ हिन्दी का तेवर लिये हुए है। आज 'कुम्भ में छोटी बहू' कहानी को मौलिक बंगमहिला द्वारा लिखित ही माना जाता है।

सन् 1906 में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कहानी 'दान-प्रतिदान' का बंगला से हिन्दी अनुवार 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ। इस कहानी का छायानुवाद बंगमहिला ने ही किया था। 'दान-प्रतिदान' मानवीय संबंधों की श्रेष्ठता को सिद्ध करने वाली कहानी है। दो मित्रों में केवल स्नेह-संबंध होने के कारण ही वे सगे भाइयों से

भी अधिक प्रेम से रहते हैं। उनके प्रेम व सौहार्द के कारण ही मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा कहानी में होती है। बंग महिला द्वारा अनूदित एक अन्य बंगला कहानी 'मुरला' 1908 में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। 'मुरला' कहानी के मूल लेखक श्रीनारायणदास सेन हैं। बंगला पत्रिका 'जन्मभूमि' में 'मुरला' का प्रकाशन हुआ था। फिर इसका हिन्दी अनुवाद 'सरस्वती' में बंगमहिला ने किया। 'मुरला' कहानी की नायिका अतुल वैभव की एकमात्र उत्तराधिकारी कन्य है। रूप-लावण्य से भरी मुरला कुछ जिद्दी व अहंकारी होकर अनजाने में अपने पति का अपमान कर देती है। अंत में पश्चाताप करते हुए मुरला की मृत्यु हो जाती है। कहानी में दाम्पत्य-जीवन में आनेवाले तनावों व द्वन्द्वों का सहज चित्रण किया गया है। 'दालिया' रवीन्द्रनाथ ठाकुर की लिखी बंगला कहानी है। इसका बंगमहिलाकृत हिन्दी अनुवाद 1909ई0 में 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हुआ, जिसके संपादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। 'दालिया एक घटनाप्रधान प्रेम-कहानी है जो उस समय की किस्सागोई के तरह की कहानियों से मिलती-जुलती है। दो नरेशों का षडयंत्र, उनकी पुत्रियों का बिछड़ना, फिर मिलना और युवराज का नौकर बनकर प्रेम करना इत्यादि घटनाएँ कहानी को मोड़ देती चलती है।

1910 ई0 में 'कुसुम संग्रह' के प्रकाशन के समय 'हरिहर सेठ' की बंगला कहानी 'संसारसुख' के हिन्दी अनुवाद को 'कुसुम संग्रह' में संकलित किया गया। 'संसार सुख' का कथ्य एक मध्यमवर्गीय परिवार से सम्बन्धित है। ससुराल में बहू की दीन-हीन दशा का यथार्थ चित्रण कहानी में किया गया है। सास-ननद जिस प्रकार घर छोड़ कर आई कन्या को नीचा दिखाने का प्रयास करती रहती है। यह कहानी समाज की महत्त्वपूर्ण इकाई परिवार पर केन्द्रित है।

श्री बैकुंठनाथ दास का 'नारी रत्नमाला' पुस्तक में भगवती देवी पर निबंध प्रकाशित हुआ था। यह लेख बंगला में प्रकाशित हुआ था। बंगमहिला ने इस लेख का अनुवाद हिन्दी में किया । 'नारी-रत्न भगवती देवी' शीर्षक से यह

अनूदित लेख 'लक्ष्मी' पत्रिका में 1910ई0 के फरवरी अंक में प्रकाशित हुआ। पुनः यह लेख 'कन्या मनोरंजन' पत्रिका में 1914ई0 में प्रकाशित हुआ।

भगवती देवी ईश्वरचन्द विद्यासागर की पूज्य माता जी का नाम था। इस लेख में भगवती देवी की दयाशीलता व परोपकारिता का वर्णन है। किस प्रकार माता के विचारों का प्रभाव ईश्वरचन्द पर भी पड़ा। वे मातृभक्ति में विश्वास रखते थे। विषम आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियों में भी धैयवान व सहिष्णु परोपकारी बने रहने का उदाहरण भगवती देवी के चरित्र द्वारा उक्त लेख में दिया है।

'रामायण की समालोचना' निबंध बंगमहिला के समय के चर्चित निबंधों में से एक है। मूलतः यह निबंध किसी यूरोप के लेखक का था जो अंग्रेजी में लिखा गया इस लेख में अतार्किक और तथ्यहीन आधारों पर रामायण की आलोचना की है। बंगला में इस लेख का अनुवाद बंकिमचन्द्र ने किया और हिन्दी में बंगमहिला ने किया । हिन्दी अनुवाद 'लक्ष्मी' पत्रिका में जुलाई 1910 में प्रकाशित हुआ। लेख पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि लेखक भारतीय पौराणिक कथाओं से अनभिज्ञ हैं। स्थान-स्थान पर कुतर्क का प्रयोग किया है। पूरे निबंध में तथ्यात्मक जानकारी न के बराबर है। सीता, लक्ष्मण व राम के चरित्रों की गलत व मनमाने ढंग से व्याख्या की गयी है। इस लेख से लेखक के भारतीय संस्कृति के अज्ञान का पता चलता हैं एक जगह लिखा है- ''भारत की स्त्रियाँ तो स्वभाव से असती हुआ करती हैं, इस बात का प्रमाण सीता से मिल जाता है। सीता घर से निकलते ही परपुरुषासक्त हो गयी और राम को छोड़कर रावण के संग लंका का राज्य भोग्य करने हेतु चली गयी।''[13] इसी तरह की बहुत सी अनर्गल बातें रामायण के बारे में लिखी गयी है। इस लेख का अनुवाद करने का उद्देश्य यही है कि सामान्य लोग जान पाए कि किस प्रकार यूरोपीय लेखक हमारे ग्रन्थों, हमारी भाषा व संस्कृति को नीचा समझते थे। हमारे देश के बहुत-से

साहित्यकार यूरोपीय देशों के आलोचकों को ही श्रेष्ठता का मानदण्ड समझकर अपने ग्रन्थों की आलोचना करने लगते है। अंग्रेजी साहित्य के प्रति सहर्ष गर्व अनुभव करना उस समय का फैशन हो गया था, उसी की असलियत इस लेख में प्रकट हुई है।

'अबुलफजल' बंगमहिला के चरित्रप्रधान अनूदित निबंधों में से है। 'अबुलफजल' लेख 1915ई0 में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित हुआ। 'अबुलफजल' लेख के मूल लेखक जलधर सेन है। लेख का प्रारम्भ आतिश के शेर से होता है। 'अबुलफजल' का चरित्र ऐतिहासिक है । वह अकबर के नवरत्नों में से एक था। उनका पूरा नाम 'अबुलफजल बिन मुबारक' था। लेख उनके उच्च चरित्र, वीरता, निडरता व सादे जीवन का लेखा है। अतीत व इतिहास के पात्रों को लेकर लिखे गए लेख उन पात्रों के महान् गुणों को उजागर करके प्रेरणास्रोत बनने का उद्देश्य लिये हुए है। बंगमहिला के निबंधों के विस्तृत विषय विस्तार से उनकी अध्ययनशीला व चिन्तनमना होने का पता चलता है।

DISS
0,152,3,M82:9(Y:15) 152 P1

बंग महिला द्वारा अन्य अनूदित कहानियाँ जो मूलत: बंगला में लिखी गयी, वे है- 'मातृहीना' । यह कहानी बंगमहिला की रचनाओं के प्रथम संकलन 'कुसुम संग्रह' में संकलित है। बंगला में इसके मूल लेखक श्री देवेन्द्र कुमार सेन है। कहानी स्त्री मनोविज्ञान पर प्रकाश डालती है। तारा की सौतेली माँ का व्यवहार ईर्ष्या से भरा है जिसे उसकी बुआ सहन नही कर पाती। कहानी में यह बताने की कोशिश है कि किस प्रकार बाल-विधवाओं व अनाथ बालिकाओं का घर में ही स्त्रियों द्वारा शोषण होता था। समाज की पारिवारिक सच्चाई से अवगत कराना लेखक का मंतव्य हें बंगमहिला की अनूदित कहानियों का विषय प्राय: मध्यमवर्ग और उनमें स्त्रियों की समस्याएँ है।

TH-9264

Jawaharlal Nehru University Library

'अपूर्व प्रतिज्ञा-पालन' कहानी बंगला में 'सखा ओ साथी' द्वारा लिखी गयी थी जिसका हिन्दी अनुवाद 'कुसुम संग्रह' में संकलित है। देशभक्ति और मातृभक्ति से ओतप्रोत यह कहानी एक बालक और उसकी माँ के इर्द-गिर्द घूमती है। 15 वर्ष का बालक निडरता व हिम्मत से सेनापति का हृदय अपनी मातृभक्ति से जीत लेता है।

'मन की दृढता' बंगमहिला की एक और अनूदित कहानी है। यह कहानी 1915ई0 में 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हुई। मूल रूप से यह कहानी बंगला पत्रिका 'यमुना' में प्रकाशित हो चुकी थी। 'मन की दृढ़ता' कहानी में विदेश के प्रति आसक्त युवाओं की दुर्दशा का चित्रण है। विदेशी युवती के लिए मोहन व सोहन दोनों का जीवन खराब हो गया। बिना विचारे कार्य करने का परिणाम खराब ही होता है।

बंगमहिला का नारी शिक्षा सम्बन्धी लेख 'गृह' बंगला से अनूदित है। मूलत: इसके लेखक श्री अविनाश चंद्र दास हैं। निबन्ध में गृह के साथ गृहिणी के महत्त्व को रखांकित किया गया है। 'गृहिणी' में गृहिणी को अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी, पवित्रमना देवी का स्थान दिया गया है। एक जगह लेखक के विचार बंगमहिला अपने शब्दों में प्रकट करती है--"तुम अपने को पराधीन जानकर हृदय में दु:खी मत हो। इसी पराधीनता के द्वारा तुमने उस परमपद को प्राप्त कर लिया है। अतएव मै कहती हूँ कि तुम गृहिणी रूप में गृह की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी हो।"[14] लेख में स्त्री के मानवी रूप का अत्यधिक महिमामण्डन कर उसे त्यागमयी देवी के रूप में प्रतिष्ठापित कर दिया है।

लेख व कहानियों के अतिरिक्त कुछ टिप्पणियाँ 'ज्ञातव्य बातें' शीर्षक से 1907ई0 में बाल प्रभाकर के जनवरी-फरवरी अंक में प्रकाशित हुई। 'ज्ञातव्य बातें'

में 'सबसे बड़ी मरुभूमि', 'अंग्रेजी राज्य', 'चीन में तीन मत' व 'तुर्की कन्याएँ' टिप्पणियों में सामाजिक व भौगोलिक जानकारी हैं।

बंगमहिला ने बंगला भाषा में कविताएँ भी लिखी हैं। ये कविताएँ इण्डियन प्रेस से प्रकाशित हुई थी। एक लघुपुस्तिका के रूप में प्रकाशित इन कविताओं का रचनाकाल 1941ई0 है। 'पूजा', 'उपेक्षा', 'भूले जाओ', 'फूल', 'अतिथि', 'अतिथिर उत्तर', 'उपदेश', 'स्मृति', 'धन्यवाद', 'कविउद्देशे' कविताएँ पुस्तक में संकलित हैं। सुधाकर पाण्डेय ने अपनी 'बंगमहिला ग्रंथावली' पुस्तक में बंगमहिला की बंगला कवितओं का देवनागरी लिपि में रूपान्तरण प्रकाशित करवाया है। बंगमहिला ने ये बंगला कविताएँ रवीन्द्रनाथ ठाकुर के देहावसान पर लिखी थी।

बंगमहिला ने बंगला के प्रसिद्ध विद्वान् साहित्यकार श्रीयुत् रामेन्द्र सुन्दर त्रिवेदी के जीवन-चरित व उपलब्धियों पर एक निबंध लिखा जो 'नागरी प्रचारिणी प्रत्रिका' के जनवरी-फरवरी मास के अंक में 1914ई0 में प्रकाशित हुआ। रामेन्द्र सुंदर त्रिवेदी बंगला पत्रिका 'साधना' के विशिष्ट लेखकों में से एक थे। 'साधना' नवम्बर 1891ई0 से प्रकाशित होना प्रारम्भ हुई थी। इसके सम्पादक रवीन्द्रनाथ ठाकुर के भतीजे सुधीन्द्रनाथ टैगोर थे। त्रिवेदी कलकत्ता के महाविद्यालय में विज्ञान के प्रोफेसर थे और बाद में प्रधानाचार्य बन गए। इनके बारे में डा0 सुकुमार सेन 'बंगला साहित्य का इतिहास' में लिखते हैं-''वे भाषा के सर्वाधिक प्रसिद्ध निबंधकारों में से थे और उनकी रचनाएँ गहन और विविधतापूर्ण पाण्डित्य और चुस्त एवम् समुचित अभिव्यक्ति के लिए उल्लेखनीय है। मेधावी गद्य लेखक ओर राष्ट्रवादी के रूप में उन्हें केवल टैगोर के बाद माना जाता था।''[15] श्रीयुत् 'रामेन्द्र सुन्दर त्रिवेदी एम.ए.' शीर्षक से यह निबंध बंगमहिला का मौलिक निबंध है। बंगमहिला की साहित्यिक यात्रा निबंध से ही प्रारम्भ हुई। सर्वप्रथम बंगमहिला का एक निबंध बंगला भाषा में बंगला पत्रिका 'प्रवासी' में प्रकाशित हुआ था। 'प्रवासी' पत्रिका उस समय 20वी शती के प्रथम दशक की महत्त्वपूर्ण पत्रिका थी। यह मासिक पत्रिका 1901ई0 में सम्पादक रामानंद चटर्जी ने शुरू की । यह

पत्रिका साहित्य, कला और समाज सुधार आदि विचारों को प्रकाशित करती थी। प्रगतिशील विचारों के साथ ही राजनीतिक गतिविधियों का रचनात्मक लेखा-जोखा भी रहता था। बंगमहिला के प्रारम्भिक अनूदित लेख 'अण्डेमान द्वीप के निवासी' और 'नीलगिरि पर्वत के निवासी टोडा लोग' मूलत: बंगला में 'प्रवासी' पत्रिका में ही प्रकाशित हुए थे।

बंगमहिला के स्त्री-विषयक लेख जैसे 'गृहचर्या', 'संगीत और सुई का काम', 'स्त्रियों की शिक्षा' और 'हमारे देश की स्त्रियों की दशा' एक साथ वनिता-विनोद में संकलित हैं। 'वनिता-विनोद' के संपादक हैं- श्री श्यामसुंदर दास। बंगमहिला के अतिरिक्त ठाकुर गदाधर सिंह, पं0 श्यामविहारी मिश्र, बाबू वेणी प्रसाद, शुकदेव तिवारी, बाबू गोपालदास और श्यामसुन्दर दास के लेख भी संकलित हैं। स्त्रियों के पढ़ने योग्य 13 लेखों का पुस्तक रूप में यह प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से हुआ। 12 जून 1906 को 'वनिता-विनोद' का प्रकाशन हुआ। बंगमहिला की रचनाओं का संकलन सर्वप्रथम 1910ई0 में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के संपादन में हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के स्मारक के रूप में 'भारतेंदु स्मारक ग्रंथमालिका' निकालना चाहते थे। इसी सिलसिले में प0 केदारनाथ पाठक से इनका परिचय होने के कारण बात की गयी और 'कुसुम संग्रह' के नाम से बंगमहिला की मौलिक व अनूदित दोनों रचनाओं का संकलन निकाला। 'कुसुम संग्रह' की सम्पादकीय भूमिका में शुक्ल जी लिखते हैं-''जिस कार्य के लिए किसी महान् पुरुष ने प्रयत्न किया हो, उसमें प्रवृत्त होकर उसे आगे बढ़ाना ही उसका सच्चा स्मरण है। अत: जिस वृक्ष को भारतेन्दु लगा गए उसके पत्र-पुष्प से बढ़ कर उनका और क्या स्मारक हो सकता है। यही विचार कर यह ग्रंथ मालिका आपलोगों के सामने रखी है।''[16] पहली ग्रन्थमालिका निकालने के लिए शुक्ल जी ने बंगमहिला को योग्य समझा। 1910 ई0 तक बंग महिला हिन्दी साहित्य में अपना स्थान बना चुकी थी। उनका लेखन परिपक्व व आधुनिक

था। 'कुसुम संग्रह' में 1910ई0 से पूर्व प्रकाशित लेख व कहानियाँ संकलित हैं। मौलिक व अनूदित रचनाओं के संकलन के समय मौलिक रचनाओं में से 'दुलाईवाली', 'भाई-बहन' कहानियों को लिया गया और अनूदित में 'कुंभ में छोटी बहू', नारायणदास सेन की 'मुरला', देवेन्द्र कुमार सेन की 'मातृहीना', हरिहर सेठ की कहानी 'संसार सुख', सखा ओ साथी की 'अपूर्व प्रतिज्ञा-पालन' और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की दो कहानियाँ 'दालिया' और 'दान-प्रतिदान' को संकलित किया गया है। 'कुंभ में छोटी बहू' को पाद टिप्पणी के कारण बंगमहिला की अनूदित रचनाओं में ही मान लिया गया है। निबंधों में 'गृहचर्या', 'संगीत और सुई का काम', 'स्त्रियों की शिक्षा', 'हमारे देश में स्त्रियों की दशा' मौलिक निबन्ध हैं जिन्हें कुसुम संग्रह में रखा गया । अनूदित निबंधों में अविनाशचन्द्र दास का लेख 'गृह', श्रीमती लावण्यप्रभा सरकार का 'पतिसेवा', रामचन्द्र चट्टोपाध्याय के दो लेख 'नीलगिरि पर्वत के निवासी टोडा लोग' और 'अण्डमान द्वीप के निवासी', बैकुण्ठदास का लेख 'नारीरत्न भगवती देवी' को 'कुसुम संग्रह' में स्थान मिला ।

'कुसुम संग्रह' में 1910 से पूर्व प्रकाशित सभी लेख व कहानियाँ संकलित हैं किन्तु आश्चर्य है कि बंगमहिला का पहला विवादित लेख 'हिन्दी के ग्रन्थकार' और दूसरा 'चन्द्रदेव से मेरी बातें' कुसुम संग्रह में संकलित नहीं है। जबकि दोनों मौलिक लेख हैं और 1904 में प्रकाशित हो चुके थे। बंगमहिला ने कुसुम संग्रह की भूमिका में भी लिखा है, ''सबसे पहले मैंने 'हिन्दी के ग्रन्थकार' नामक लेख लिखा, उसे स्वर्गीय जैन वैद्य महोदय ने अपने 'समालोचक' नामक मासिक पत्र में प्रकाशित किया। इस लेख को देखकर कितने ही सज्जनों ने हर्ष प्रकट किया और कितने महाशयों ने असंतुष्ट होकर सामयिक पत्रों द्वारा मुझ पर खूब कटु वाक्य बरसाए, जिनके बदले में मैं उन महाशयों का उपकार मानती हूँ। उससे मेरा उत्साह या यों कहिए कि स्पर्द्धा और भी बढ़ गयी। अस्तु, उस समय से लेकर आज तक मेरे जितने अनुवादित और लिखित प्रबंध समालोचक, सरस्वती, आनंद

कादंम्बिनी, भारतेन्दु बाल प्रभाकर, लक्ष्मी, स्वदेश बांधव, मित्र आदि पत्रों में और 'वनिता विनोद' नामक पुस्तक में प्रकाशित हुए थे। वे ही सब संग्रहीत होकर 'कुसुम संग्रह' के नाम से पुन: प्रकाशित हो रहे है।''[17] इसके बावजूद बंगमहिला की दोनों प्रथम मौलिक रचनाएँ संग्रह में नही हैं।

'कुसुम संग्रह' प्रकाशन के बाद एक प्रसिद्ध पुस्तक बन गयी। यहाँ तक कि उत्तरप्रदेश सरकार ने कन्या विद्यालय के पाठ्यक्रम में भी इसे सम्मिलित कर लिया। नागरी प्रचारिणी सभा के 19वें वार्षिक विवरण में 'कुसुम संग्रह' को दस सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों में सातवाँ स्थान दिया गया जिससे पुस्तक की मांग बढ़ गयी। मांग के अनुरूप 'कुसुम संग्रह' की प्रतियाँ उपलब्ध नहीं थी। केदारनाथ पाठक ने बंगमहिला को फिर से साहित्य की ओर उन्मुख करने का यही रास्ता अपनाया, उन्होंने गया प्रसाद शुक्ल से 'कुसुम संग्रह' का दूसरा संस्करण निकालने का आग्रह किया और यह बंगमहिला के सहयोग के बिना संभव न था ।

ध्यातव्य है कि 1917 में पति की मृत्यु के बाद बंगमहिला साहित्य-संसार से दूर हो गयी थी। 1922 के प्रारम्भ में पाठक जी ने बंगमहिला को राजी किया और काशी ले आये। काशी बंगमहिला की धार्मिक प्रवृत्ति के लिए उत्तम स्थान था। दूसरे संस्करण का प्रूफ देखना उन्ही के जिम्मे था सो बंगमहिला के स्थिर जीवन में साहित्यिक गति आने लगी। 1922 की दीपावली तक 'कुसुम संग्रह' का दूसरा संस्करण 'प्रथमावृत्ति' तैयार हो गया। हितचिन्तक प्रेस से मुद्रित यह संस्करण पहले संस्करण 'कुसुम संग्रह' की अपेक्षा अधिक सुसज्जित था। पुस्तक में प्रारम्भिक पृष्ठों पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का रंगीन चित्र दिया गया था। इसके अलावा लेख व कहानियों के लिए भी रंगीन चित्र दिये गये थे। 'प्रथमावृत्ति' के संपादक में रामचन्द्रशुक्ल का ही नाम रखा गया है। 'प्रथमावृत्ति' में बंगमहिला की मौलिक रचनाओं को नहीं रखा गया, बल्कि अनूदित रचनाओं में भी 'कुसुम संग्रह' में संकलित अनूदित रचनाओं को ही 'प्रथमावृत्ति' में दोबारा संकलित किया है।

नयी बात जो प्रथमावृत्ति में थी वह यह कि इसमें 'कुसुम संग्रह' के प्रकाशन के बाद विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में जो 'कुसुम संग्रह' की आलोचना व प्रशंसा छपी उसे इस नए संस्करण में रखा गया है। उदाहरण के लिए 'माडर्न रिव्यू' में छपी एक प्रतिक्रिया :- *"The book will form an admirable prize book in girls schools.....we repeat that the book will form a nice and useful present to females. It is no less interesting to the general readers."--- The Modern Review."*[18]

'भारत जीवन' की एक प्रतिक्रिया को भी 'प्रथमावृत्ति' के प्रतिक्रियाओं वाले परिशिष्ट में रखा है- ''यह यथार्थ में कुसुम संग्रह है।... इस संग्रह के एक ही बार पढ़ लेने से कोई संतुष्ट हो जाए, यह कदापि संभव नहीं। एक बार समाप्त कर फिर पढ़ने की लालसा बनी रह जाती है, प्रत्येक गृहस्थी में इसकी एक प्रति अवश्य रहनी चाहिए।''- भारत जीवन[19]

प्रतिक्रियाओं से पता चलता है कि 'कुसुम संग्रह' को स्त्री उपयोगी पुस्तक के रूपमें प्रशंसा मिली व इसे कन्याओं के लिए आवश्यक माना गया।

'प्रथमावृत्ति' संकलन में धन्यवाद परिशिष्ट भी जोड़ा गया है। प्रकाशक ने श्रीमती बंगमहिला, उत्तरप्रदेश सरकार और वहाँ के पुस्तकालयों को तथा प0 केदारनाथ पाठक को धन्यवाद दिया गया है।

बंग महिला की साहित्यिक यात्रा का आखिरी पड़ाव उनकी बंगला कविताएँ हैं। इन कविताओं के माध्यम से उन्होंने रवीन्द्रनाथ टैगोर के प्रति शोकग्रस्त बंगाल की श्रद्धा प्रकट की है।

बंग महिला ने अपने जीवन में दु:ख को विपरीत परिस्थितियों में संघर्ष का हथियार बनाया।

बंगमहिला की कहानी 'दुलाई वाली' हिन्दी साहित्य को महत्त्वपूर्ण देन है। उनकी अन्य रचनाओं की चर्चा साहित्य में नहीं के बराबर है किन्तु 20वीं शती के एकदम शुरुआती सालों में बंगमहिला के स्त्री जागरूकता के विचारों व उनके लेखन का अनदेखा नहीं किया जा सकता ।

संदर्भ ग्रन्थ-सूची

1. राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य - डॉ0 वीर भारत तलवार पृ0-125
2. बंगमहिला : नारी मुक्ति का संघर्ष - भवदेव पाण्डेय - पृ0सं0-10
3. बंगमहिला : नारी मुक्ति का संघर्ष - भवदेव पाण्डेय - पृ0सं0-31
4. वही, पृ0सं0-38
5. हिन्दी कहानी का विकास-मधुरेश पृ0सं0-12
6. बंगमहिला ग्रंथावली - सुधाकर पाण्डेय, पृ0 सं0-92
7. वही, पृ0सं0-105
8. वही, पृ0 सं0-40
9. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0सं0-275
10. बंगमहिला ग्रन्थावली-सुधाकर पाण्डेय, पृ0सं0-121
11. वही, पृ0सं0-118
12. बंगमहिला : नारी मुक्ति का संघर्ष - भवदेव पाण्डेय पृ0सं0-56
13. बंगमहिला ग्रन्थावली-सुधाकर पाण्डेय-पृ0सं0-171
14. वही, पृ0सं0-100
15. बंगला साहित्य का इतिहास - सुकुमार सेन, पृ0-212, 293
16. बंगमहिला : नारी मुक्ति का संघर्ष-भवदेव पाण्डेय, पृ0सं0-28
17. बंगमहिला : ग्रन्थावली-भवदेव पाण्डेय, पृ0सं0-34
18. बंग महिला : नारी मुक्ति का संघर्ष-भवदेव पाण्डेय, पृ0सं0-34
19. वही, पृ0सं0-35

अध्याय - 2

तत्कालीन युग में स्त्री चेतना

20वीं शताब्दी के शुरू के दशक स्त्री चेतना का युग माने जाते हैं। 20वीं सदी के प्रारम्भ से कुछ वर्ष पूर्व 1882ई0 में वंग महिला का जन्म हुआ था। उस काल में स्त्रियों की सामाजिक दशा को सुधारने के लिए व्यापक समाज सुधार आंदोलन चलाया जा रहा था। 1900 ई0 से इस आन्दोलन में कुछ महत्त्वपूर्ण आयाम जुड़ गए थे जैसे स्त्रियों की सामाजिक स्थिति के साथ-साथ उनकी व्यक्तिगत पारिवारिक भूमिकाओं पर भी ध्यान दिया गया।

1904ई0 से बंग महिला के लेखन का उदय होता है। 1903ई0 से हिन्दी साहित्य की महत्त्वपूर्ण पत्रिका 'सरस्वती' के संपादन का कार्यभार महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संभाला और 1904ई0 में बंगमहिला का मौलिक लेख 'चन्द्रदेव से मेरी बातें' इसमें प्रकाशित हुआ। 1904ई0 में ही हिन्दी की दूसरी बड़ी पत्रिका 'समालोचक' जिसके सम्पादक चन्द्रधर शर्मा गुलेरी थे, में बंगमहिला का तत्कालीन विवादास्पद लेख 'हिन्दी के ग्रंथकार' प्रकाशित हुआ। हालाँकि इन दोनों ही लेखों का संबंध स्त्री जागरण से नही था, किन्तु दोनों लेख पढ़ने से पता चलता है कि बंगमहिला की समसामयिक जागरूकता कितनी थी।

बंग महिला जिस कालखण्ड में लिख रही थी वह स्त्री-मुक्ति का था। उस युग में स्त्री-चेतना की रूपरेखा कैसी थी, इसे जानने के लिए स्त्री जागरण संबंधी समाज सुधार आंदोलन की पृष्ठभूमि को जानना आवश्यक है।

19वीं सदी में स्त्री-चेतना : संदर्भ समाज और साहित्य

भारतीय इतिहास में सुधार आन्दोलन का कारण भारत में पाश्चात्य शिक्षा के आगमन को माना जाता है। किन्तु यह पूर्ण सत्य नही है। जब किसी समाज की परिस्थितियाँ और उनसे उत्पन्न समस्याएँ इतना विकराल रूप धारण कर लेती हैं कि उस जाति व देश के पिछड़ेपन का कारण बन जाए तो वहाँ क्रान्तिकारी सुधार आवश्यक हो जाता है। 19वीं शताब्दी के मध्य से ही भारतीय युवक पाश्चात्य संस्कृति के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव में थे, उनकी शिक्षा में अंग्रेजी की अधिकता थी। शिक्षा के प्रसार ने युवकों की चेतना को प्रभावित किया। शिक्षा चाहे किसी देश, जाति की हो वह मस्तिष्क को परिष्कृत करती है और समाज को उन्नति की ओर अग्रसर करती है फलस्वरूप तत्कालीन शिक्षित पीढ़ी ने भी अपने समाज की स्थिति को सुधारने की दिशा में प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये।

समाज में दलित और स्त्री दोनों वर्गों की दशा दयनीय थी। स्त्री, समाज का आधा हिस्सा थी और समाज के उन नियमों से पीड़ित थी जो स्त्रियों के लिए ही बनाए गए थे। ये नियम ही स्त्रियों के शोषण का मुख्य कारण बनते थे। परदा-प्रथा और बालविवाह जैसी समस्याओं का कारण जहाँ एक ओर मुस्लिम शासन का आगमन था तो दूसरी ओर बिधवा दशा और निर्मम धार्मिक नियमाचार ब्राह्मणवाद की देन थे।

'सती प्रथा' उस समय की सबसे अमानवीय प्रथा थी । इसके अनुसार पत्नी को पति की मृत्युशय्या पर जीवित जला दिया जाता था । आज भी उत्तर भारत के लगभग प्रत्येक गाँव में 'सत्तीमाई' का मन्दिर मिल जाएगा । वहाँ अभी भी मेलों का आयोजन होता है ।

राजस्थान में पति की मृत्यु की आशंका से, पति की मृत्यु से पहले ही जो स्त्री चितानल में प्राण विसर्जन करती उसे 'सोहागन' और जो स्त्री पति की

सहगामिनी होती थी उसे 'दोहागन' कहते थे।[1] सती के अनेक मामलों में यह प्रकट हो जाता था कि स्त्रियों को जबरन जलाया जा रहा था। बंगाल से राजाराम मोहन राय ने सतीप्रथा के विरोध में आंदोलन चलाया और अथक प्रयासों के बाद 1829 में इसे कानूनी रूप से निषेध करार दिया गया। इसके बाद भी 19वीं सदी के अन्त तक राजस्थान और बंगाल के कुछ क्षेत्रों में यह प्रथा जारी रही। सती होने के बाद स्त्री की जीवन-लीला समाप्त हो जाती थी, लेकिन तत्कालीन समाज में जीवित रहते सती होने की प्रथा भी थी, विधवा-प्रथा। बहुत प्राचीन काल में, (पता नहीं कब?) विधवाओं का जीवन सम्माननीय व श्रद्धेय माना जाता था, उनकी सहनशीलता, संयम और त्याग-प्रवृत्ति के लिए उनका आदर होता था। सामाजिक परिस्थितियाँ बदली, शासन बदले और धीरे-धीरे विधवाओं का जीवन निकृष्टतम होता गया, यहाँ तक कि विधवा का दर्शन अशुभ माना जाने लगा। हिन्दू धर्म में विधवाओं के लिए नियम और अधिक कड़े व अमानवीय होते गए। मध्यमवर्गीय परिवार में विधवा की स्थिति घर की एक सुहागन नौकरानी से भी बदतर थी। विधवा जीवन के नियमों को धर्म से जोड़ दिया गया था और धर्माचार के सारे संवाद तो पुरुषों से ही प्रारम्भ होते थे। 'पति के बिना स्त्री का कोई अवलम्ब नहीं है।' इस बात को पुरुषों ने धार्मिक आधार दे दिया और सब स्त्रियाँ इसे मानकर पुरुषों को ही सर्वस्व समझती रहीं। समाज में पुरुषों का एकाधिकार था। अपने वर्चस्व को कायम रखने के लिए पुरुषों ने सर्वोत्तम उपाय यही निकाला। विधवा स्त्री को बेसहारा घोषित कर, धार्मिक आचारों का हवाला देकर उसे नियति के सहारे छोड़ दिया। विधवाएँ एक प्रकार से उस समय समाज से बहिष्कृत ही थी।

19वीं सदी के अन्त के कुछ दशकों में समाज-सुधारकों ने विधवा-विवाह का प्रश्न उठाया। लार्ड उलहौजी के काल में 1856 में विधवा विवाह को कानूनन स्वीकृति मिल गयी थी लेकिन 1881 तक पंजाब में स्त्रियों की जनसंख्या का 24.

8 प्रतिशत 15 वर्ष से कम आयु वाली विधवाओं का था। विधवा समस्या के विकराल होते जाने का कारण था बाल विवाह। हालांकि 1861 में ही बालविवाह को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया था, तब भी यह समस्या 20वी सदी तक जारी रही।

अशिक्षा स्त्रियों के पिछड़ेपन का एक प्रमुख कारण था। भारत में स्त्री-शिक्षा के प्रचार-प्रसार का कार्य मिशनरियों द्वारा किया गया। 1849 में बंगाल में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और बेथुन ने मिलकर पहला सरकारी कन्या महाविद्यालय खोला जो आगे चलकर बेथुन कॉलेज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 1852 में ज्योतिराव फूले ने पहला भारतीयों द्वारा चलाया जानेवाला कन्या विद्यालय खोला। इस कार्य में उनकी पत्नी सावित्रीबाई फूले ने उनका साथ दिया। वे उस विद्यालय में पढ़ाती भी थी। धीरे-धीरे स्त्री-शिक्षा का प्रसार होने लगा और स्त्री-शिक्षा को मान्यता भी मिलने लगी थी। कन्या विद्यालयों का पाठ्यक्रम स्त्रियोचित गुणों को बढ़ाने वाला हो या लड़कों की तरह ही व्यवहारिक व व्यवसायिक शिक्षा देने वाला, इस बात को लेकर स्त्री-शिक्षा समर्थकों के दो दल बन गए थे। दोनों ही पक्षों के समर्थकों में स्त्रियां व पुरुष शामिल थे। प्राय: पुरुष सुधारक भारतीय संस्कृति और महान अतीत परम्परा का गुणगान करते और शिक्षा के लिए वैदिक काल की स्त्रियों का उदाहरण देते ।

सितम्बर 1884 में 'फीमेल हाई स्कूल, पूने' का पाठ्यक्रम लड़कों को पढ़ाए जाने वाले पाठ्यक्रम के समान ही था। लोकमान्य तिलक ने इसके विरोध में सितम्बर-अक्टूबर 1887 के 'केसरी' में चार लेखों की श्रृंखला प्रकाशित की जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि स्त्रियों के लिए एक अलग पाठ्यक्रम होना चाहिए जिसमें उन्हें अपने घरेलू कर्त्तव्यों का पालन करने की शिक्षा दी गई हों दूसरी ओर गोपालगणेश अगरकर जैसे समाज-सुधारक सहशिक्षा के प्रबल समर्थक थे और चाहते थे कि स्त्रियां उच्च शिक्षा प्राप्त करे और पुरुषों के हर क्षेत्र में

उनकी प्रतियोगी बने।[2] इस तरह के वाद-विवाद 20वीं सदी के स्त्रीशिक्षा आन्दोलन में भी प्राय: उठते रहते थे। तत्कालीन पत्र-पत्रिकाएँ भी स्त्रियों के गृहिणी पक्ष को सार्थक बताती और लेखों में तत्सम्बन्धी उपदेश भरे होते थे। इस दृष्टिकोण के पीछे यह कारण हो सकता है कि स्त्री-शिक्षा की शुरुआत मिशनरियों द्वारा हुई थी और अधिकतर मिशन स्कूलों में इसाई धर्म से सम्बन्धित शिक्षा दी जाती थी। धर्मांतरण का डर और स्त्रियों के पश्चिमीकृत हो जाने का खतरा तथाकथित स्त्री हितचिंतकों को सता रहा था। भारतीय संस्कृति के अनुसार स्त्री का गृहकार्य में और मातृत्व में निपुण होना ही उसकी महान् उपलब्धि समझी जाती है, हालांकि वैदिक काल में स्त्रियाँ ज्योतिष, संस्कृत, गणित व नीतिशास्त्र में पुरुषों क बराबर क्षमता रखती थी। शताब्दियों के समय अन्तराल ने स्त्री के प्रति पुरुष का रवैया बदल दिया। घर को उसने स्त्री की कमजोरी बना दिया और स्वयं उसका स्वामी बन बैठा।

19वीं शताब्दी के अंत तक आते-आते स्त्रियाँ जानने लगी थीं कि हृदय से कोमल या भावनात्मक होना व्यक्तित्व की हीनता नहीं है। गृहस्थी या मातृत्व किसी भी सूरत में निठल्लेपन और गंवार होने के पर्याय नहीं हो सकते।- तत्कालीन समय में समाज व व्यक्ति से जुड़ी प्रत्येक वस्तु व विचार में स्त्रीवादी स्वर सुनायी देने लगे थे। हिन्दी प्रदेश में समाज-सुधार के स्वर कुछ धीमे थे, वहाँ राष्ट्रीयता और स्वराज्य आंदोलन का स्वर प्रबल था। साहित्य समाज से अछूता नहीं रहता। 1850 के बाद का समय हिन्दी साहित्य में 'भारतेन्दु काल' के नाम से जाना जाता है। हिन्दी साहित्य के इस काल में राष्ट्रीय चेतना तो है पर स्त्री चेतना नाममात्र की है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साहित्य में कुछ स्त्री-दशा सुधारने संबंधी विचार मिलते हैं। अपने एक नाटक 'नीलदेवी' की भूमिका में वे लिखते हैं- "जिस भाँति अंग्रेज स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती है, घर का काम-काज संभालती है, अपने संतानों को शिक्षा देती है, अपना स्वत्व पहचानती

है, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति-विपत्ति को समझती है, उसमें सहायता देती है और इतने समुन्नत मनुष्य जीवन को व्यर्थ गृहदास्य और कलह में ही नहीं खोती, उसी भाँति हमारी गृहदेवता भी वर्तमान हीनावस्था का उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करे, यही लालसा है। इस उन्नति के पथ की अवरोधक हमलोगों की वत्रमान कुल-परम्परा मात्र है और कुछ नही।[3] गृहदास्य का उल्लंघन कर स्वत्व को पहचानने की प्रेरणा देना अपने-आप में नारी चेतना का प्रमाण है। भारतेन्दु ने ही अपने एक अन्य नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में विधवा विवाह का समर्थन किया है- ''विधवागत का विवाह कर देना उनको नरक से निकाल लेना है और शास्त्र की भी यही आज्ञा है ।''[4] 1868 में भारतेन्दु ने 'कवि वचन सुधा' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। यह पहली ऐसी हिन्दी साहित्यिक पत्रिका है जिसमें 'नारी नर सम होहि' का विचार रखा गया था। 1874 में उन्होंने कन्यापयोगी पत्रिका 'बाल-बोधिनी पत्रिका' प्रकाशित की जो चार वर्ष बाद आर्थिक अभाव के कारण बंद कर दी गयी। इस पत्रिका में अधिकतर उपदेशात्मक लेख ही होते थे। जिस पर डा0 वीर भारत तलवार लिखते हैं-''कुछ सालों तक निकली इस मासिक पत्रिका में स्त्रियों की हालत सुधारने की बजाए, खुद स्त्रियों को ही सुधारने का इरादा दिखाई देता है।''[5] यह इरादा उस समय की प्राय: तमाम पत्रिकाओं में दिखाई पड़ता है। जन-जन में जागरूकता फैलाने के लिए भारतेन्दु हरिश्चनद्र ने जातीय लोक संगीत की सहायता ली। लोक-संगीत को इस तरह प्रयोग करने का विचार सर्वप्रथम उनके मन में ही आया बालविवाह के दुष्परिणाम, शिक्षा की आवश्यकता, अनमेल विवाह की अशास्त्रता, शिशु हत्या के कुप्रचार के कारण व उन्हें मिटाने का उपाय आदि विषयों की जानकारी लोकगीतों में ढालकर व नौटंकी के रूप में प्रस्तुत करके भारतेंदु ने प्रत्येक वर्ग में चेतना का प्रसार किया।

भारतेंदु कालीन अन्य साहित्यकारों के साहित्य में स्त्री चेतना का स्वर नहीं मिलता।

19वीं शताब्दी के समाजसुधार संबंधी कार्यक्रमों में मुख्यत: स्त्रियों से संबंधित मूल समस्याओं और उन्हें बंधक बनाकर रखनेवाली प्रथाओं के खिलाफ आवाज उठाई, इसमें पुरुष समाज सुधारकों की भूमिका अधिक रही। स्त्रीवाद और स्त्रीमुक्ति आंदोलन क्रमश: 19वीं और 20वीं सदी को जोड़ते हैं। 19वीं शती के अन्तिम दो दशकों से स्त्रीवादी आन्दोलन ने जोर पकड़ा जिसमें स्त्रियों की समस्याओं को उन्हीं के नजरिए से देखा गया।

स्त्रीवाद के स्वर : पण्डिता रमाबाई सरस्वती

विधवा के नारकीय जीवन से स्त्रियों की मुक्ति का सबसे सार्थक प्रयास महाराष्ट्र की पण्डिता रमाबाई का था। वे स्वयं एक विधवा थी। पं0 रमाबाई के प्रयास केवल कुप्रथाओं को दूर करने तक सीमित नही थे। उन्होंने स्त्रियों की पूर्ण स्वतंत्रता का लक्ष्य रखा और स्त्रियों के अधिकारों को पाने के लिए स्त्रियों का अवाहन किया। उत्तर भारत में हालांकि पं0 रमाबाई जैसी सशक्त महिला आंदोलनकारी नही थी स्त्री संबंधी जो भी मुद्दे थे उन्हें प्राय: पुरुष सुधारक ही उठा रहे थे।

महाराष्ट्र के ब्राह्मण परिवारों में विधवाओं का मुंडन कर दिया जाता था। पं0 रमाबाई ने सर्वप्रथम इसका विरोध किया, यह प्रथा स्त्रियों के सम्मान से जुड़ी थी इस प्रथा के पीछे विभिन्न धार्मिक तर्क दिए जाते, किन्तु इसका उद्देश्य विधवा की अलग से पहचान होने और सद्चरित्र व संयम रखने से जुड़ा था। यह स्त्रियों को कुरूप करने का एक तरीका था जो उनकी मानसिक प्रताड़ना को बढ़ा देता था। 1889 में पं0 रमाबाई ने 'शारदा सदन' की स्थापना की, विधवाओं के लिए यह केवल आश्रम नहीं था। शिक्षा के साथ-साथ स्त्रियों में आत्मबल का संचार

करना 'शारदा सदन' का मुख्य उद्देश्य था। 'शारदा सदन' की धार्मिक स्वतंत्रता को लेकर तत्कालीन हिन्दू समाज में बहुत विवाद भी रहा, रमाबाई पर आरोप लगाया गया कि वे हिन्दू विधवाओं को धर्मांतरण के लिए प्रोत्साहित करती है।

स्त्रियों की खराब स्थिति का कारण यह भी था कि प्राय: स्त्रियां ही स्त्रियों की पीड़ा को और बढ़ा देती थी। महादेव गोविंद रानाडे ने जब अपनी 12 वर्षीय पत्नी रमाबाई को पढ़ाने का निश्चय किया तो सर्वाधिक विरोध घर की स्त्रियों ने किया और उन्होंने रमाबाई को घर में ही बहिष्कृत कर दिया। इस तरह के और बहुत उदाहरण प्राय: तब समाज में पाए जाते थे।

'शारदा सदन' की पहली छात्रा 'गोडूबाई' थी जिन्होंने बाद में घोंडो केशव कर्वे के साथ पुनर्विवाह किया दोनों ने मिलकर 1896 में 'हिन्दू विधवा आश्रम' खोला।

इस प्रकार 19वीं शती के अन्त तक आते-आते स्त्री जागरूकता में स्त्रियों की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो गयी थी।

20वीं सदी : स्त्री मुक्ति का आंदोलन

20वीं सदी के शुरू में, समाजसुधार आंदोलन के बाद स्त्री के अधिकारों की सुरक्षा की बात उठने लगी थी। स्त्रियों ने एक संगठित आंदोलन के द्वारा अपनी मांगे रखनी शुरू कर दी। मोटे तौर पर स्त्रीमुक्ति आंदोलन में पुरूषों की सार्थक भूमिका नगण्य रही स्त्रियों का प्रत्येक क्षेत्र में पदार्पण आंदोलन के एक नए पहलू के रूप में सामने आया। 1907 में घोंडो केशव कर्वे ने छात्रावास कन्या विद्यालय खोला जो उनकी पुत्रवधू इरावती करवे के परिश्रम से कॉलेज में और 1916 में विधिवत् विश्वविद्यालय में परिणत हो गया। भारत में, स्त्रियों का यह पहला विश्वविद्यालय था। व्यावसायिक शिक्षा का प्रारम्भ आनंदी बाई के अमेरिका से डॉक्टर बनने के साथ ही हो चुका था। 20वीं शती तक आते-आते देश में

काफी महिला डॉक्टर हो गयी थी। मद्रास की डॉ0 मुथ्युलक्ष्मी रेड्डी एक सशक्त स्त्री आंदोलन कर्ता थी, ऐसी ही उच्चशिक्षा प्राप्त स्त्रियों ने आंदोलन को संगठित रूप दिया। 1902 में रमाबाई रानाडे ने 'हिंदू लेडिज सोशल एण्ड लिटरेरी क्लब' और 1909 में पूना में 'सेवा सदन' की शाखा का कार्यभार संभाला। पारसी समुदाय की स्त्रियों ने 1903 में 'जोरास्ट्रीयन वीमेन ऐसोसिएशन' बनाया, जो सीधा स्त्रियों की रोजगार संबंधी शिक्षा व समस्याओं से जुड़ा, था।[6] 1903 में जमनाबाई ने 'गुजराती स्त्रीमण्डल' बनाया। 1910 में सरलादेवी चौधरानी ने 'भारतीय स्त्री महामण्डल' की स्थापना की। 1917 में मद्रास में श्री मती डॉरथी जिनारदासा ने 'वीमेन इण्डियन एसोसिएशन' (WIA) की नीवं डाली। इसकी 72 शाखाएं 23 केन्द्र और 4000 सदस्य थे।[7] प्राय: सभी स्त्री संगठनों ने स्त्री के मानवाधिकारों को अपनी नीतियों में प्रमुख स्थान दिया। स्त्रीमुक्ति आंदोलन को प्रचार प्रसार के लिए माध्यम की आवश्यकता हुई। लेखन को सशक्त माध्यम बनाया गया। सदी के पहले दशक में ही कई महिलापत्रिकाएं प्रकाशित होने लगी थी और उनके संपादन का भार भी प्राय: स्त्रियों ने ही संभाला।

पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका : एक आकलन

1900 के बाद प्रकाशित पत्रिकाओं में स्त्री समाज और उसकी समस्याओं को महत्त्वपूर्ण स्थान मिलने लगा। स्त्री चेतना व जागरूकता संबंधी लेख समय-समय पर प्रकाशित होने लगे जिसमें स्त्री व पुरुष दोनों लिखते थे।

वैसे तो 19वीं सदी के मध्य के कुछ बाद से ही पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित होनी प्रारंभ हो गयी थी किन्तु उन पत्रिकाओं में स्त्रियों के लिए आदर्श निर्धारण की प्रवृत्ति ही अधिक प्रबल थी।

1905 में शेख अब्दुल्ला के संपादन में 'खातून' नामक पत्रिका पंजाब से निकलती थी जिसमें बहुविवाह के विरोध में लेख प्रकाशित होते थे।

1906 में नरसिंहपुर से 'आर्यवनिता' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसकी संपादक श्री सुमित्रादेवी थी। एक स्त्री संपादक होते हुए भी इस पत्रिका के विषय उपदेश, भजन आख्यान इत्यादि ही रहते थे। उदाहरण के लिए -

सम्हल-सम्हल पग मोरि बहना
देश बिगाने जाना होगा
सास बिगानी, नन्द बगानी
ससुरा कंत बिगाना होगा
ना बाबुल ना वीर लाड़ला
किसको रोय सुनाना होगा।[8]

उक्त पंक्तियों में ससुराल की वास्तविकता बताकर व्यावहारिकता और सहनशीलता का उपदेश दिया है। इसी तरह की अन्य पत्रिकाएं भी थीं जिनमें स्त्रियों की यथार्थ स्थिति का वर्णन तो होता था किन्तु शिक्षा उन्हें त्याग का आदर्श मार्ग सिखाने की ही दी होती।

1909 में पं0 सुदर्शनाचार और श्रीमती यशोदा देवी के संपादन में 'गृहलक्ष्मी' का प्रकाशन हुआ। इस पत्रिका की विषयवस्तु स्त्रियों की सामाजिक दशा का चित्रण व स्त्री जागरूकता संबंधी लेख थे। गृहलक्ष्मी के प्रकाशन के बाद महिला पत्रिकाओं का स्तर कुछ बढ़ा। 'गृहलक्ष्मी' पत्रिका में स्त्री स्वतंत्रता पर स्त्रियों के लिखे लेख भी प्रकाशित होते थे। 1909 में ही रामेश्वरी नेहरू के संपादन में 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका का स्त्री मुक्ति आंदोलन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्त्रियों की पूर्ण स्वतंत्रता व समानता के अधिकार को लेकर क्रान्तिकारी लेख स्वयं स्त्री लेखिकाओं द्वारा निकलते थे। ये लेख बहुत बार विवादास्पद हो जाते और प्राय: पुरुष वर्ग के द्वारा उन पर आरोप प्रत्यारोप लगाया जाता और वे उनके लेख भी स्त्रीदर्पण में ही प्रकाशित होते थे। स्त्री

लेखिकाओं के तीखे व्यंग्यात्मक लेखों के लिए यह पत्रिका विख्यात थी। इसके अतिरिक्त 'स्त्री दर्पण' में समसामयिक घटनाओं पर आलोचनात्मक लेख प्रकाशित होते। तत्कालीन समस्या 'कुली भरती' और उसमें स्त्रियों की दुर्दशा पर 1917-1920 तक की 'स्त्री दर्पण' पत्रिकाओं में कई लेख निकले। नंदरानी नेहरू का इस विषय पर मार्च 1917 में लेख प्रकाशित हुआ। इसी विषय पर इस अंक में, रामेश्वरी नेहरू द्वारा गठित 'प्रयाग महिला समिति' की बैठक में आयोजित व्याख्यानों पर आलोचना प्रकाशित हुई थी।

'स्त्री दर्पण' में ही 'कुमारी दर्पण' शीर्षक से अलग भाग होता था इसकी संपादक रुपकुमारी नेहरू थी। इसमें कन्याओं के मानसिक स्तर को परिष्कृत और उन्नत बनाने के लिए लेख, पहेलियां, कविताएं व ज्ञानवर्धक जानकारियां रहती थी।

1911 में प्रयाग से पं0 कृष्णकांत मालवीय के संपादन में 'मर्यादा' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। 'मर्यादा' एक सामाजिक पत्रिका थी। 'स्त्रीदर्पण' या 'गृहलक्ष्मी' की तरह वह महिला पत्रिका नहीं थी, इसके बाद भी 'मर्यादा' में स्त्री शिक्षा संबंधी और स्त्री स्वतंत्रता की सीमा जैसे विवादित विषयों पर लेख प्रकाशित होते थे। गांधी जी, लाला लाजपत राय, सरोजिनी नायडू, रामेश्वरी नेहरू प्राय: इस पत्रिका में लिखते रहते थे।

'स्त्रीदर्पण' के बाद 'चाँद' पत्रिका ने स्त्रीमुक्ति आंदोलन को एक और मंच प्रदान किया। 'चाँद' महिलाओं की सचित्र मासिक पत्रिका थी। 1922 में इसका प्रकाशन इलाहाबाद से हुआ। इलाहाबाद उस समय साहित्य व समाज से जुड़ी प्रत्येक गतिविधि का केन्द्र था। रामरखासिंह सहगल संपादक थे और श्रीमती विद्यावती सहगल, इसकी संचालिका थी। पत्रिका के प्रथम अंक (नवम्बर, 1922) की भूमिका में लिखा है - "हमारे पत्र का उद्देश्य स्त्रियों में अज्ञान, परदे की कुप्रथा इत्यादि, सामाजिक बुराईयों को दूर करना। स्त्रियों को उपयोगी तथा उनके

हित की बातों से सदा परिचित कराते रहना उन्हें बच्चे पालने की शिक्षा देते रहना, उन्हें गृहस्थी के सभी कार्यों में निपुण बनाना है।"

तत्कालीन प्रकाशित पत्रिकाओं में भी गृहस्थी को सर्वोपरि धर्म मानकर ही स्त्रियों के विकास की संभावनाएं तलाशी गयी। एक आध पत्रिका में एक दो लेख ऐसे प्रकाशित हुए जिनमें जीवन के अन्य क्षेत्रों में उन्नति व सफलता को उद्देश्य माना गया किन्तु समाज में उन लेखिकाओं की और लेखों की तीखी व्यंग्यात्मक प्रतिक्रिया हुई। 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका प्राय: इस मामले में विवादास्पद रही।

1923 में चुनार, मीरजापुर में 'स्त्री धर्मशिक्षा' और 1921 में आगरा से 'महिला' पत्रिका निकलती थी। इनका रूप मिलाजुला था। उपदेशात्मक लेखों के साथ-साथ, स्त्रीमुक्ति पर टीका टिप्पणी व आंदोलन की सार्थकता आदि विषयों पर भी लेख प्रकाशित होते थे।

पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों के स्वरूप से भी उस समय की सामाजिक विचारधारा का पता मिलता है। 'सुधा' पत्रिका दुलारेलाल भार्गव और रूपनारायण पांडे के संपादन में लखनऊ से प्रकाशित होती थी। 'सुधा' में 'स्त्री समाज' नाम से अलग स्तंभ था जिसमें स्त्री मुक्ति आंदोलन की मांगों व समस्याओं पर लेख निकलते थे। इस पत्रिका के फरवरी 1929 के अंक में 'सती सावित्री' पुस्तक का विज्ञापन प्रकाशित हुआ था। विज्ञापन को पढ़कर पता चलता है कि सीता, सावित्री आदि का आदर्श व पतिव्रत्य धर्म कितनी बुरी तरह तत्कालीन स्त्रियों पर आरोपित किया जाता था।

"यह पुस्तक कुमारी कन्याओं और विवाहिता स्त्रियों तथा बूढ़ों के पढ़ने के लिए अपूर्व शिक्षाप्रद और सर्वोत्तम है ××× ऐसा कौन भारतीय परिवार होगा, जो अपनी बहू-बेटियों और वनिताओं को सावित्री के पातिव्रत्य की कथा न पढ़ाना चाहता हो -" प्रकाशक-गंगा पुस्तकमाला।[10]

इसके लगभग 20 वर्ष पहले फरवरी, 1910 की 'सरस्वती' पत्रिका में भी कुछ इसी तरह का विज्ञापन निकला था। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की बंगला पुस्तक 'सीता वनवास' के अनुवाद के लिए यह विज्ञापन था - "यदि आपको पतिव्रता स्त्री और एक पत्नीव्रत पुरुष का उत्कृष्ट नमूना देखना हो तो सीता वनवास पढ़िए।"[11] 'सुधा' के विज्ञापन से 20 साल पहले प्रकाशित इस विज्ञापन में कही न कही एक पत्नीव्रत पुरुष को भी आदर्श मानकर उसका उल्लेख कर दिया गया था, यद्यपि स्त्रियों पर 'पतिव्रत धर्म' का दबाव न्यून व अधिक समाज में बाद तक बना रहा। पत्रिकाओं में इसका कही खण्डन नही है जिससे इसे ही उत्तम व उत्कृष्ट मानने की धारणा को बल मिला।

हिन्दी की साहित्यिक पत्रिकाओं में 'सरस्वती' व 'समालोचक' उस समय की मूर्धन्य पत्रिकाएं रही। हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'सरस्वती' की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है। 1900 ई0 में 'सरस्वती' का प्रकाशन इलाहाबाद से हुआ इसके संपादक बाबू श्याम सुंदरदास थे। स्त्री समस्याओं से संबंधित कोई लेख शायद ही ढूँढने से पत्रिका में मिलता था। 1903 से महावीर प्रसाद द्विवेदी के संपादन में 'सरस्वती' में 'कामिनी कौतूहल' स्तंभ प्रकाशित होना शुरू हुआ।

इस स्तंभ में दो भाग थे, एक भाग में जीवन में सफल व संघर्षशील स्त्रियों की जीवनियां होती थी और दूसरे भाग में स्त्रीपयोगी सामाजिक ज्ञान व स्वास्थ्य संबंधी विज्ञान की बातें प्रकाशित होती थी। दो या तीन साल बाद यह स्तंभ प्रकाशित होना बंद हो गया। उसके बाद 'सरस्वती' में यदा कदा स्त्री मुक्ति या सुधार संबंधी कोई लेख प्रकाशित होता था। 1910 तक इस पत्रिका में कन्या महाविद्यालयों और विधवाआश्रमों का विवरण ही प्रकाशित होता रहा।

'समालोचक' जिसके संपादक चन्द्रधर शर्मा गुलेरी थे, जयपुर से प्रकाशित होती थी। इसके अलावा काशी से 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' प्रकाशित होती थी। दोनों साहित्यिक पत्रिकाओं में साहित्यिक निबंध व ज्ञानवर्धक लेख होते जिनका स्त्री

चेतना से कोई संबंध नहीं था इनमें स्त्री लेखिकाओं जैसे राजेन्द्रबाला घोष के लेख प्रकाशित होते थे जिनका विषय साहित्यिक होता था।

पत्रिकाओं के आकलन से यह बात स्पष्ट है कि समाज पर 20वीं सदी के स्त्री मुक्ति आंदोलन का प्रभाव सबसे अधिक रहा। राष्ट्रीय चेतना के बाद समाज में आम जीवन जीने वाले लोग, अपनी आधी आबादी स्त्रियों की दशा के प्रति जागरूक हुए। स्वाधीनता आंदोलन के साथ ही स्त्री मुक्ति आंदोलन भी चर्चित रहा था, और इसका प्रैस ने खूब लाभ उठाया। मंतव्य चाहे जो भी हो, पत्रिकाओं की लोकप्रियता ने आम जनता में विचारों के संप्रेषण का कार्य सिद्ध किया। इस दृष्टि से पत्रिकाओं का स्त्री-चेतना व जागरूकता में स्थायी योगदान है। पत्र-पत्रिकाओं के बाद, एक दृष्टि उन विषयों पर भी डाल लेनी चाहिए जो, इन पत्रिकाओं में चर्चित रहे। पिछली सदी (19 वीं) से चली आ रही कुप्रथाओं में सुधार के प्रयास जारी रहे जैसे बालविवाह, पर्दा प्रथा, विधवा प्रथा। बाल विवाह और पर्दा प्रथा का विरोध जम कर हुआ और कुछ हद तक यह जनसाधारण में अमान्य भी हो गए। जहाँ तक विधवा प्रथा का प्रश्न है उसे लेकर यह नहीं कहा जा सकता कि सभी समाज सुधारक अथवा समाज हित चिन्तक एक मत थे। विधवा विवाह के प्रश्न पर अनेक गणमान्य लोगों की असहमति थी उदाहरण के लिए 'प्रभा' में (जुलाई 1920) में प्रकाशित एक लेख में महात्मा गांधी की प्रतिक्रिया ज्यों की त्यों प्रस्तुत है, जो उन्होंने भारत में विधवाओं की बढ़ती संख्या पर प्रकट की थी "अधीर सुधारक यह कहेंगे कि विधवा विवाह इस रोग की सबसे अच्छी औषधि है, किन्तु मैं यह कहीं कह सकता, मैं बाल बच्चों वाला आदमी हूँ मेरे कुटुम्ब में कई विधवाएं हैं, किन्तु मैं उनसे यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि तुम पुनर्विवाह कर लो।"[12] उक्त लेख की पंक्तियों के विषय में ही अगस्त 1920 के 'स्त्री दर्पण' में एक लेखिका की उद्धरण सहित टिप्पणी थी, कि 'पाठिकाएं स्वयं विचार कर लें कि

महात्मा जी के विचार कितने उपयोगी व न्यायसंगत है।"[13] 1920 से चार दशक पूर्व पण्डिता रमाबाई और कर्वे जैसे समाज सुधारक विधवा विवाह का जोरदार समर्थन कर, स्त्रियों के प्रकृति प्रदत्त सुखों को सुलभ बनाने का मार्ग तय कर चुके थे।

इसी प्रकार का अन्तर्विरोध शिक्षा में भी रहा स्त्री शिक्षा की नीति व उद्देश्यों को लेकर बहस होती रही। स्त्री मुक्ति आंदोलन में अन्तर्विरोधों का होना संभव था, क्योंकि सभी विषयों पर एक निर्णय से एकमत नही हुआ जा सकता था। यह किसी भी बड़े आंदोलन का एक पहलू होता है।

20वीं सदी के स्त्री आंदोलन में कुछ नए अधिकारों की मांग भी उठी, राजनीतिक अधिकार, जैसे वोट देने और चुनाव लड़ने का अधिकार, पारिवारिक समानता का अधिकार जिसमें पत्नी व पति का घर में बराबर स्थान हो। इन विभिन्न मुद्दों का विश्लेषण तत्कालीन संदर्भ में किया जा सकता है।

राजनैतिक अधिकार : स्त्रियों की भूमिका

सरोजिनी नायडू, भगिनी निवेदिता, सावित्री बाई फूले, अवंतिकाबाई गोखले, ऐसूबाई सावरकर, शारदा देवी ऐसे नाम हैं जिन्होंने स्वाधीनता आंदोलन में सक्रिय योगदान दिया और इनके अतिरिक्त भी बहुत नाम है, जिनका योगदान महत्वपूर्ण है। 'महिलाएं और स्वराज्य' में आशारानी बोहरा लिखती है- "भारत में नारी मुक्ति और देश की गुलामी से मुक्ति ये दो बातें कभी पृथक नही रही।"[13] यह सही है क्योंकि राजनीति से जुड़ी महिलाएं सामाजिक आंदोलनों से भी यथावत् जुड़ी थी। राजनीति में महिलाओं के मताधिकार का प्रस्ताव ऐसी ही स्त्रियों ने रखा। ऐनी बेसेंट, सरोजिनी नायडू, लीला नाग, सरला देवी चौधरानी स्त्री की समाज में हीन स्थिति को सुधारने के लिए सदैव प्रयासरत रहती थी। ऐनी बेसेंट 'वीमेन्स इण्डियन एसोसिएशन' की अध्यक्ष थी। 1917 में जब वे राष्ट्रीय कांग्रेस

की अध्यक्ष थी, भारतीय स्त्रियों का प्रतिनिधि मण्डल मांटेग्यू से स्त्री मताधिकार के संबंध में मिला था।

1928 में सरोजिनी नायडू ने काउंसिल के चुनावों में स्त्रियों के वोट के अधिकार के पक्ष में प्रस्ताव रखा, जिसका मदनमोहन मालवीय ने विरोध किया था। बाद में संयुक्त प्रांत के अलीगढ़ अधिवेशन मे वह प्रस्ताव निर्विरोध पास हो गया।

स्त्री मताधिकार का सवाल असल में सबसे पहले यूरोपियन स्त्रियों ने उठाया 1905 से ही वे अपने इस अधिकार की मांग रख रही थी। विश्वयुद्ध में जब देश के पुरूष युद्ध में थे तब अपने देश के प्रत्येक कार्य का भार स्त्रियों ने उठाया इससे यूरोप की स्त्रियों ने अपने क्षेत्र में ही नहीं बल्कि पूरे विश्व में अपनी उपस्थिति दर्ज करवा दी। इंग्लैड सरकार को चाहे अनचाहे स्त्रियों को राजनैतिक अधिकार देने पड़े। इंग्लैड का सीधा असर भारत पर हुआ क्योंकि उस समय इंग्लैड और भारत का प्रत्यक्ष संबंध था चाहे वह मालिक और गुलाम का ही हो। अक्तूबर 1918 में 'स्त्रीदर्पण' में उक्त आंदोलन का पूरा इतिहास प्रकाशित हुआ था।

वोट के अधिकार के साथ ही स्त्रियों ने प्रथम नागरिकता का सवाल उठाया, स्वराज्य में उनकी भूमिका और स्थिति को स्पष्ट करने और इसे कांग्रेस की पार्टी नीति में शामिल करने का प्रस्ताव भी रखा। 'स्त्रियों को होमरूल पहिले दीजिए' लेख में सत्यवती देवी और लक्ष्मी देवी वाजपेयी ने लिखा है कि स्त्रियों का पारिवारिक सामाजिक स्तर दोयम दर्जे का था। (स्त्री दर्पण, फरवरी 1917)

देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ने वाले पुरुष जमींदार, ब्राह्मण, दोगली नीति अपनाए हुए थे। अपनी स्वतंत्रता के लिए अधीर पुरुष वर्ग कमजोर किसान, दलित व स्त्रियों को स्वतंत्रता देने के मामले में विपरीत रूख अपना लेता था। राजनीतिक महिला नेताओं ने कांग्रेस पार्टी को यह अहसास दिलवाया कि स्त्रियों की स्थिति

व भूमिका को निश्चित कर लेना आवश्यक है। देश की आधी जनसंख्या को नजरअंदाज करके समाज का उत्थान नहीं हो सकता था। पूर्ण स्वतंत्रता के लक्ष्य में स्त्रियों का भी स्थान व हक था। स्त्रियों के समान अधिकार और विकास से जुड़े मुद्दे को तत्कालीन बड़े नेताओं नें किनारे कर दिया। जबकि किसानों, मजदूरों और दलितों के हक के लिए जगह-जगह आवाज उठायी गयी। तब स्त्रियों के विषय राजनीतिक पार्टी कांग्रेस की प्राथमिक नीतियों में शामिल नहीं हुए थे। दलित और हरिजन ही राष्ट्रीय आंदोलन के सामाजिक पक्ष पर छाए रहे।

स्त्री-पुरुष संबंध : सामाजिक ढांचे में बदलाव की आवश्यकता

व्यवसायिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ स्त्रियों में एक नया दृष्टिकोण उभर रहा था, समाज में अपने अस्तित्व को लेकर। समाज में स्त्री-पुरुष संबंधों को पुन: परिभाषित करने की आवश्यकता महसूस होने लगी थी। पितृसत्तात्मक ढांचे को नकारने का प्रयास आरम्भ हुआ जिससे दाम्पत्य संबंधों में बदलाव आना स्वाभाविक था। समाज में अपना व्यक्तित्व स्थापित करने के लिए स्त्रियों को सर्वप्रथम घर के पुरुषों के साथ व बल की आवश्यकता थी जो प्राय: नहीं मिलता था। पितृसत्तात्मक समाज में पिता, पति व भाई के जीवन पर्यन्त संरक्षण में रहने के नियम ने स्त्रियों को परजीवी बना रखा था। पुरुष जैसे चाहे अपनी स्त्रियों को रखते और उनका उपयोग करते। निम्न वर्ग व मध्यमवर्ग में स्थिति अधिक दयनीय थी। स्त्री मुक्ति आंदोलन ने स्त्री की पारिवारिक प्रताड़ना का विरोध किया। नाना पत्र पत्रिकाओं में इस विषय पर लेख प्रकाशित होते थे। हुक्मा देवी लिखती है कि "पशु-पक्षी पालने वाले पुरुष को उनके मरने अथवा उड़ जाने पर कहीं अधिक शोक होता है पर अपनी पत्नी के रोगग्रस्त होने अथवा मरने पर उतना नहीं, क्योंकि स्त्री पैर की जूती है फट गयी तो नयी आ जाएगी' इस तरह के विचार 'स्त्री दर्पण' पत्रिका में प्राय: प्रकाशित होते थे। पुरुषों के निर्मम व स्वार्थी व्यवहार ने स्त्रियों के मन में वितृष्णा भर दी थी।

स्त्रियों के पिछड़ेपन का एक कारण पर्दा प्रथा थी इस प्रथा के चलते स्त्रियों को घर में कैदी की तरह रखा जाता था और तर्क करने का तो प्रश्न ही नहीं था क्योंकि यह प्रथा तब बहुत प्रचलित थी। पर्दा प्रथा के रहते स्त्रियां उन्नत हो ही नही सकती, शिक्षा का मार्ग इसे अवरूद्ध होता था। 'हमारे देश में स्त्रियों की दशा' (सरस्वती, 1908) में बंगमहिला लिखती है- "दक्षिण में पर्दा प्रथा का उतना प्रचलन नहीं होने से वहाँ की महिलाएं अधिक जागरुक व शिक्षिता होती है।" यह सही भी था, महाराष्ट्र की स्त्रियां हिन्दी प्रदेश की स्त्रियों से अधिक क्षेत्रों में स्वतंत्र थी। पर्दा प्रथा का स्वास्थ्य हानि संबंधी प्रश्न भी उठाया। स्त्रियों के स्वास्थ्य का बहुत अधिक ध्यान रखना तत्कालीन समाज में विलासिता माना जाता था। जबकि सच्चाई यह थी कि हर साल सैकड़ों बाल विवाह होते और स्त्रियों की मृत्यु दर बढ़ती जाती। 'आधुनिक पर्दा प्रणाली और उससे हानियां' लेख में श्रीमती सौभाग्यवती ने परदे की स्वास्थ्य संबंधी हानियों से अवगत कराया था। 1918 में 'स्त्री दर्पण' के अगस्त अंक में प्रकाशित इस लेख में परदे से होने वाली सांस व अन्य शारीरिक बीमारियों के बारे में बताया गया। परदा प्रथा घोर विरोध के बाद भी सर्वथा निर्मूल नहीं हुई। डॉ0 वीर भारत तलवार ठीक ही लिखते हैं कि यह सिर्फ एक समस्या न थी वह एक दुष्चक्र का अंग था।[15] पर्दे का असली मंतव्य था घर से बाहर निकलने पर कठोर नियंत्रण। पर्दे का असर स्त्रियों के मानसिक विकास पर भी पड़ा, मुस्लिम शासन के आगमन से प्रचलित परदा, 20वीं सदी तक छाया रहा जिससे स्त्रियों में भाग्यवादी व अवलम्बित होने की प्रवृत्ति पनपती रही। जिसके कारण दाम्पत्य जीवन में स्त्री पुरूष संबंध एक तरह से स्वामी और दासी के रूप में थे। शिक्षा के प्रचार ने पर्दा प्रथा को हटाने में मदद की तो दूसरी ओर स्त्रियों को व्यर्थ दास्य भाव से भी मुक्त किया। तत्कालीन समाज में वैवाहिक जीवन की मधुरता से दूर तक भी स्त्रियों का परिचय नहीं था। पति-पत्नी में भावनात्मक लगाव नही था। 'स्त्री-दर्पण' में अपने

एक लेख में उमा नेहरू लिखती हैं- "दासी और स्वामी का प्रेम घृणामय, अस्थिर और अप्राकृतिक है। दासी भाव के स्थान पर मैत्री भाव का उत्पन्न हो जाना स्त्री पुरुष के पारस्परिक संबंध को अधिक विशाल उच्च और पवित्र बनाएगा।"[16] उमा नेहरू के विचार दाम्पत्य प्रेम का आदर्श है किन्तु जिस समाज में विधुरों के दूसरे तीसरे विवाह हो रहे थे उस समय दाम्पत्य में मैत्री भाव, असंभव ही प्रतीत होता था। स्त्रीमुक्ति आंदोलन की नेताओं ने पत्र-पत्रिकाओं द्वारा समानता व प्रेम का आदर्श ही प्रचारित-प्रसारित किया। रामेश्वरी नेहरू, उमा नेहरू, हुक्मा देवी, सत्यवती देवी ने विभिन्न भाषणों और लेखों द्वारा महिलाओं में स्वाभिमान व आत्मविश्वास पैदा करने की कोशिश जारी रखी। रामेश्वरी नेहरू के अनुसार 'वर्तमान आंदोलन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के साथ स्त्री की पूर्णसमता की इच्छुक हैं, और रिवाजी योग्यताओं से उनकी पूर्णमुक्ति चाहता है।'[17]

तत्कालीन समाज में, किसी भी रिश्ते में स्त्री की सहमति-असहमति का कोई मूल्य नहीं था। केवल पितृभक्ति और पतिभक्ति को ही सर्वसम्मति से स्त्री धर्म माना गया था। विवाह से पहले लड़कियों की इच्छा का महत्त्व शून्य था। जो शिक्षित स्त्रियां घर के बाहर नौकरी करती थी उनके प्रति समाज में बहुत सम्मानजनक रवैया नहीं था। उन्हें प्रायः आक्षेपों का सामना करना पड़ता। घर के पुरूषों का शिक्षिताओं के प्रति यह विचार देखकर स्त्रियों ने भी यही धारणा बना ली। उनका मानना था कि घर के बाहर जाकर स्त्रियां भ्रष्ट हो जाती हैं। स्त्रियों के मन से गलत धारणाओं को दूर करना और उन्हें पराश्रित न रहने देने के लिए स्त्रीमुक्ति आंदोलन ने सार्थक प्रयास किए।

बाल विवाह और विधवा प्रथा : कुछ पुराने प्रश्न

बाल विवाह और विधवाओं की हीन दशा ऐसी समस्याएं थी जिनका मूल निवारण 20वीं सदी तक नहीं हुआ था। बाल विवाह भारतीय समाज की प्रमुख

समस्या थी जो स्त्रियों के सामाजिक पिछड़ेपन की बड़ी वजह थी। 1921 ई0 में हुई जनगणना में (उस समय जनगणना को 'मर्द मशुमारी' यानि मर्दों की संख्या कहा जाता था), प्रत्येक पीढ़ी में 32,00,000 माताएं बच्चा पैदा होने के कष्टों से पीड़ित होकर संसार से त्राण पा जाती थी।[18] 12-15 वर्ष की उम्र में गौना हुई युवती 16 वर्ष की उम्र में माँ बनती और शारीरिक कष्ट को सहन नहीं कर पाती थी। बाल-विवाह के लिए भी तर्क वही दिया जाता था जो पर्दा प्रथा के लिए, यथाकथित स्त्री-पवित्रता को बचाए रखने का। इसे इतना महिमा मंडित कर दिया जाता कि मानसिक व शारीरिक स्वास्थ्य के पहलू एकदम नजर अंदाज कर दिए जाते। छोटी उम्र में शादी करके पिता अपनी जिम्मेदारी के बोझ से मुक्त होना चाहते थे। बाल-विवाह के कारण समाज में लड़कियों की सामाजिक स्थिति बदतर होती गयी। 12-14 वर्ष की लड़की का विवाह 60 वर्ष के बूढ़े से कर दिया जाता था। अनमेल विवाह का एक पक्ष यह भी था कि पत्नियों को सम्मान नही मिलता, विवाहित पुरुष कई विवाह कर लेते थे, जब कुंआरी लड़कियां उन्हें उपलब्ध थी तो वे व्याहता पत्नी की तरफ ध्यान नही देते थे। स्त्रियों पर पारिवारिक हिंसा बढ़ने लगी थी। अपने घर में ही महिलाओं की दुर्दशा होती थी। ऐसा नही है कि केवल पुरुषों के कारण ही स्त्रियों का शोषण होता था। स्त्रियां स्वयं भी स्त्रियों की अवनति के लिए कम जिम्मेदार नहीं थी। समाज का ढांचा ही ऐसा था कि उसमें स्त्री के लिए दोयम स्थान ही निर्धारित था। हजारों सालों से ऐसा ही होता रहने पर स्वयं स्त्रियों का मानसिक विकास अवरूद्ध हो गया था, स्त्रियों के प्रति अन्याय में वे पुरुषों का साथ देती या तो डर से अथवा इच्छा से। सास का बहू के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण जहाँ संबंधों को विकृत कर देता तो दूसरी ओर एक पति की दो पत्नियां ईर्ष्यावश एक दूसरे का सर्वनाश करने पर तुली रहती थी अनमेल विवाह, बहुविवाह और बालविवाह की परिणति भयानक होती थी। विधवाओं की संख्या बढ़ने लगी। बूढ़े पति कब तक जीवित

रहते, बालक पति कभी दुर्घटना का शिकार होते तो कभी बीमारी का। हिन्दी प्रदेश, संयुक्त प्रांत में 1914-15 से 1923-24 तक विधवाओं की संख्या 17209 थी। जनवरी, 1919 में स्त्रीदर्पण में 'जबरदस्ती वैधव्य' शीर्षक से लेख छपा था जिसमें संयुक्त प्रांत की विधवाओं की दयनीय सामाजिक स्थिति का चित्रण है। 20वीं सदी के स्त्री मुक्ति आंदोलन में स्त्री-पुरुष समानता और राजनैतिक अधिकार जैसे नए प्रश्नों को उठाया किन्तु विधवा जीवन व उससे जुड़ी समस्याओं का कोई ठोस समाधान प्रस्तुत नहीं किया जबकि विधवा विवाह के समर्थन में 1885-90 में 20वीं सदी से कहीं अधिक प्रयास हुए। 'स्त्री दर्पण' जैसी महिलाओं की प्रगतिशील पत्रिका में भी कोई लेख विधवा विवाह का पुरजोर समर्थन करता हुआ प्रकाशित नहीं हो पाया। सामान्यत: विधवाओं के कड़े जीवन को थोड़ा आसान बनाने के उपाय ही सब सुझाते रहे। सितम्बर, 1919 में 'स्त्री-दर्पण' में 'हिन्दू विधवाओं के लिए स्वर्ग का द्वार' शीर्षक से लेख प्रकाशित हुआ जिसमें सरसैयाघाट, कानपुर के एक विधवाश्रम में मिलने वाली सुविधाओं का विस्तार से वर्णन है। हिंदू परिवारों का आवाहन किया गया था कि वे अपनी किस्मत की मारी विधवाओं को उस आश्रम में भर्ती करवाएं। स्त्री आंदोलनों का, विधवा विवाह के प्रति ऐसा नकारात्मक रूख क्यों था इसके विभिन्न कारण प्रतीत होते हैं। पहला तो यह कि विधवा प्रथा और जीवन के कड़े नियम धर्म से सीधे जुड़े हुए थे। विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा की तरह स्त्री उन्नति का तर्क नहीं बन सका था। धार्मिक निष्ठा व लगभग जड़ हो चुकी संस्कृति के विरूद्ध बुलंद आवाज उठाने का साहस सुधारकों द्वारा, 20वीं सदी में नहीं किया गया।

दूसरे बालविवाह, पर्दा, अनमेल विवाह आदि समस्याओं के निवारण में जिस प्रकार पुरुष, स्त्रियों के सहयोगी थे, उस तरह विधवा विवाह के समर्थन में नहीं। स्त्री शिक्षा का प्रचार प्रसार जितनी गति से हुआ उससे आधा भी विधवा विवाह का नहीं हुआ। महात्मा गांधी जैसे नेताओं ने विधवा जीवन को धन्य व पूजनीय

कहा था। विधवा विवाह का उन्होंने कभी समर्थन नहीं किया केवल बाल विधवा के विवाह के पक्ष में वे थे। असल में स्त्रियों से जुड़ी समस्याएँ, राजनीति व समाज दोनों की मुख्य धारा में आ चुकी थी इसमें विधवा प्रथा की समस्या, उतने सशक्त रूप में नहीं जुड़ सकी। आम जनता की धार्मिक भावनाओं को पिछली सदी से ही विधवा जीवन से जोड़ दिया गया था। विधवाओं के लिए नियत जीवन शैली से तिल भर थी हटने में पुरुष धर्माधिकारों को वर्चस्व के टूटने का भारी खतरा था। तत्कालीन, स्त्री समाज सुधारक आंदोलन भी विधवा विवाह को प्रचलन में नहीं ला पाए। एक ओर गांधी विधवा जीवन को हिन्दूत्व का उत्कृष्ट रूप कहते हैं[19] तो दूसरी ओर 'स्त्री-दर्पण' की संपादक कहती हैं- "हमारी सम्मति में यदि विधवा विवाह एकदम जारी करने में सचमुच कठिनाईयों का सामना करना पड़ता हो तो एक से 15 वर्ष की उम्र वाली कन्याओं का विवाह कर देने की नीति अनायास रोकी जा सकती है।[20] यहाँ 'यदि' और 'सामना करना पड़ता हो तो' शब्द पद ध्यान देने योग्य है। 'स्त्री-दर्पण' पत्रिका स्त्रियों की सर्वाधिक स्वतंत्र विचारों वाली पत्रिका थी। उक्त कथन में ये वाक्य अधिकार से अधिक याचना को लक्षित करते हैं।

साहित्य में भी स्त्री और उनसे जुड़े हुए विषय आते रहे। हिन्दी और बंगला दोनों भाषाओं के साहित्य में बाल-विवाह, विधवा-जीवन, अनमेल विवाह पर कहानियां मिलती हैं। विधवा जीवन विषय पर कहानियों में विधवा विवाह प्राय: नहीं के बराबर है। विधवाओं के आदर्शों की ही स्थापना की है। उदाहरण के लिए 'स्त्री-दर्पण' में जून 1917 और मई 1919 के अंकों में क्रमश: 'प्रेमबिंदु' और 'आराधना' कहानियां प्रकाशित हुई। दोनों कहानियों में विधवा विवाह का प्रयोजन होते हुएभी, अन्त आदर्शवादी अथवा पलायनवादी है। 'प्रेमबिंदू' की नायिका नर्स है उसका पूर्व प्रेमी घायल होकर उसी अस्पताल में आता है। प्रेमिका के विधवा होने के बाद यह उसकी प्रथम भेंट थी किन्तु वह विवाह का प्रस्ताव न रखकर

अस्पताल में कुछ रकम दान में देकर चला जाता है। दूसरी कहानी 'आराधना' में विधवा की सास-ससुर व पतिभक्ति को ही जीवन का उद्देश्य मान लिया गया है। सेवा करते-करते, अंतत: उसका पति जीवित मिल जाता है। इसमें पुनर्विवाह के प्रश्न को ही समाप्त कर दिया गया।

दोनों कहानियों के प्रकाशित होने से पहले 1907 में प्रेमचंद अपने उपन्यास 'प्रेमा' में विधवा विवाह दिखा चुके थे। डॉ0 वीर भारत तलवार के अनुसार, 'बेशक विधवा नायिक से विवाह करने वाला प्रेमचंद का नायक अमृतराय भी उद्धारक जैसा ही है।'[21] 'विशाल भारत' में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कहानी 'त्याग' प्रकाशित हुई थी। जिसमें नायक, अछूत बाल विधवा नायिका से प्रेम-विवाह करता है, बाद में नायिका की असलियत खुलने पर, व पिता के घोर विरोध के बाद भी वह पत्नी का त्याग नही करता । इस कहानी में विधवा-विवाह के साथ-साथ अन्तर्जातीय प्रेम-विवाह को भी प्रोत्साहित किया है।

अंतत: निष्कर्ष यही निकलता है कि विधवा-विवाह को उतना समर्थन नहीं मिला जितना स्त्री शिक्षा को। कारण चाहे धार्मिक रहे हो अथवा सामाजिक निम्न वर्गीय और मध्यवर्गीय, परिवारों में विधवाएं नारकीय जीवन जीने को विवश थी।

स्त्री शिक्षा : दशा एवं दिशा

19वीं सदी में स्त्री शिक्षा के पाठ्यक्रम व शैली को लेकर जो विवाद उठा था वह 20वीं सदी तक जारी रहा। स्त्री शिक्षा के उद्देश्य को लेकर बहस होती रही। स्त्री मुक्ति आंदोलन, स्त्रियों के व्यक्तित्व के विकास व उनके अपने अधिकारों के प्रति सचेत करने वाली शिक्षा का पक्षधर था। 'स्त्री-दर्पण' पत्रिका में जून 1917 में हृदय मोहिनी का एक लेख प्रकाशित हुआ, जो पद्मसिंह शर्मा के लेख 'स्त्री शिक्षा पर अकबर के विचार' की प्रतिक्रिया में लिखा गया था। अकबर

के विचारों को पद्मसिंह शर्मा ने अपने लेख में व्याख्या की। अकबर ने लिखा था -

पब्लिक में क्या जरूर कि जाकर तनी रहो।
पढ़ लिख के अपने घर ही में देवी बनी रहो।।

इस पर हृदय मोहिनी ने अपने लेख में अकबर और पद्मसिंह शर्मा दोनों की कटु आलोचना की। स्त्री मुक्ति आंदोलन की नेताओं ने पत्र-पत्रिकाओं व जनसभाओं के माध्यम से युवतियों में आत्मचेतना तथा आत्मबल का प्रसार करना प्रारम्भ कर दिया था। शिक्षित युवतियों के संबंध में फैली भ्रान्तियों और गलत धारणाओं को दूर किया जाता था प्राय: समझा जाता था कि शिक्षित स्त्रियां शीलवती व सहृदय नहीं होती। जबकि सामज में उस समय शिक्षित स्त्रियां घर व बाहर दोनों जगह काम कर रही थी। 'सरस्वती' पत्रिका लिखती है - "स्त्रियों को पढ़ाने-लिखाने से जो लाभ हैं, वे छिपे नहीं है परन्तु तिस पर भी कोई मनुष्य स्त्री शिक्षा के प्रतिकूल है वे कहते हैं कि स्त्रियों को शिक्षा देने से वे पति की परवाह न करेगी, घर के काम में मन न लगावेगी और अपने धर्म को तुच्छ समझेगी इसीलिए गृहस्थी का सारा सुख जाता रहेगा, यह समझना भूल है।[22] उक्त उदाहरण शिक्षा के बारे में फैले कुप्रचार को दूर करता है जिसमें समाज व सामाजिक प्रतिमानों का पूरा ख्याल रखा गया है। कुछ ऐसी पत्रिकाएँ व सम्पादक भी थे जो शिक्षित स्त्रियों के मर्म को जानते थे, पुरुषों की असली मंशा को समझते थे। 'मर्यादा' 1913 मार्च के अंक की संपादकीय टिप्पणी में प्रकाशित हुआ- "स्त्रियों की दशा सुधारने का जो भाव फैल रहा है उसमें बहुत कुछ स्वार्थ का अंश है। लोग उन्हें टहलनी बनाए रखना चाहते हैं, शिक्षित भार्या ज्यादा योग्यता के साथ घर की गुलामी और पति परमेश्वर का मनोरंजन कर सकती है। लोहे की जंजीर की जगह आप उनको मुलम्मे की बेड़ियाँ पहना दें, पर बात तो वही रही।"[23] यह बात बिल्कुल सही थी। समाज में फैली अराजकता या

पारिवारिक परम्पराओं का हवाला देकर शिक्षित स्त्रियों को घर में बैठा कर उनसे वही कार्य लिया जाता जो किसी भी अनपढ़ व अज्ञानी स्त्री से।

दूसरी ओर ऐसी स्त्रियाँ भी थी जो प्रत्येक क्षेत्र व विषयों में पुरुषों के समान ही थी। 'विशाल भारत' के 'महिला मण्डल' तथा 'सुधा' के 'स्त्री समाज' स्तम्भ में शिक्षा के क्षेत्र में योग्यता प्राप्त युवतियों का विवरण चित्र सहित छपता था ताकि और लड़कियाँ उससे प्रेरणा ले सके। 'सरस्वती' में भी 'कामिनी कौतूहल' में 1903 के बाद कुछ 2-3 साल तक महान व सफल स्त्रियों की जीवनियाँ प्रकाशित होती रही थी। शिक्षा के वे विषय जिन पर पहले केवल पुरुषों की ही विशेषज्ञता थी, अब स्त्रियों की पहुँच से दूर नहीं थे। कृषि, विज्ञान, अर्थनीतिशास्त्र, कानून आदि विषयों में लड़कियाँ लड़कों से अग्रणी रही। स्त्री शिक्षा स्त्रियों के स्वभावानुसार स्त्रियोचित ही होनी चाहिए, इसका खण्डन किया गया। अपने लेख (हमें आनन्द कैसे प्रापत हो) में विशेश्वर दयाल विद्यार्थी लिखते हैं-"प्राय: आज-कल स्त्रियों के कॉलेज में पढ़ने या अन्य भाषा पढ़ने से बहुत नेतागण विरुद्ध हैं, परन्तु यह उनका पक्षपात है कि जो विद्या पढ़कर पुरुष शिक्षित कहलाते हैं, वह विद्या पढ़कर स्त्रियाँ कुलटा हो जाऐंगी ।"[24] यह तर्क सही था, क्योंकि स्त्रियों की मानसिक संरचना कहीं भी पुरुषों से अलग नहीं है । जिस विषय को पुरुष आत्मसात कर सकते हैं उतनी ही सशक्तता से स्त्रियाँ भी। स्त्रियोचित गुण व संस्कार, मन से कोमल होना केवल बाहरी वातावरण के प्रभाव मात्र थे जो हजारो सालों से मन व तन पर पड़ते-पड़ते जड़ हो चुके थे और स्त्रियों ने उसे ही अपना जन्मजात गुण मान लिया, जबकि प्रकृति से केवल मातृत्व को छोड़कर और कोई गुण व धर्म स्त्रियों व पुरुषों का अलग नही है। स्त्रियाँ भी उतनी ही सशक्त है जितने पुरुष। 'विशाल भारत' में 'नारियों का भौतिक गठन' शीर्षक से राधामोहन गाकुल का लेख भी छपा था जिसमें स्त्री मन की दुर्बलता जैसी भ्रान्तियों को वैज्ञानिक तर्कों द्वारा खण्डित किया गया है। स्त्रीवादी

शिक्षिताओं ने तर्क दिया कि शिक्षा के लिए मस्तिष्क की आवश्यकता होती है, शारीरिक बलिष्ठता की नही और विज्ञान में 'कही' भी 'स्त्री मस्तिष्क' का वर्णन नही है।

पुरुषों द्वारा स्त्री शिक्षा के उद्देश्य तय करने की उनकी नीति का तत्कालीन स्त्रियों ने विरोध किया 'अखिल भारतीय महिला शिक्षा सुधार सभा' के तृतीय अधिवेशन में पटना में महारानी ललित कुमारी ने कहा था - "यह बहुत ही संकुचित विचार है कि स्त्रियों को केवल उतनी ही शिक्षा देनी चाहिए जितनी सी से वे गृहस्थी और मातृत्व के कार्यो को पूर्णरूपेण संभाल सके, भला ऐसा कभी कोई यह भी कहता है कि पुरुषों को विशेषकर ऐसी ही शिक्षा देनी चाहिए जिससे वे अच्छे पिता और अच्छे पति बने"[25] पुरुषों की अपने को ही स्त्रियों का सर्वस्व समझ लेने की प्रवृत्ति पर यह तीव्र कटाक्ष था।

समाज में स्त्रियों के दो प्रचलित चले आ रहे रूपों से इतर कल्पना समाज के ठेकेदारों को परेशानी में डाल देती थी दो रूप थे भार्या व जननी। प्रेमिका और माता के साथ युवती डाक्टर, इंजीनियर, अर्थशास्त्री या अध्यापक हो सकती थी, उस रूप की कल्पना पुरुष वर्ग को सहनीय ही नही थी इसका पहला असर उनके एकछत्र अधिकार पर पड़ता था। प्रत्येक क्षेत्र में अपनी प्रतियोगी के रूप में स्त्री को वे नहीं देख सकते थे। इसीलिए व्यावसायिक शिक्षा का घोर विरोध हुआ और बार-बार स्त्रियों को उनकी प्रथम प्राथमिकता 'स्त्री होना' को याद दिलाया जाता और उपदेश दिए जाते। पुरुष वर्ग तो अपने लाभ हेतू ऐसा कर ही रहा था स्त्रियां स्वयं भी घर गृहस्थी की व्यावहारिक शिक्षा को ही अधिक प्रोत्साहित करती। कई महिला लेखिकाओं ने स्त्री शिक्षा में, सीना पिरोना, पाकशास्त्र, शिशुपालन, गर्भपालन को ही सम्मिलित किया है इसके साथ पतिसेवा और चारित्रिक गुणों आदि प्रवृत्ति को बढ़ावा देने वाले लेख लिखे। बंग महिला के मौलिक लेख 'गृहचर्या' और 'संगीत और लुई का काम' क्रमशः वनित विनोद

(1906) और कन्या मनोरंजन (1915) में प्रकाशित हुए। 'सरस्वती' के फरवरी, मार्च (1903) के अंक में भी 'स्त्रियों में संगीत शिक्षा' लेख प्रकाशित हुआ।

निष्कर्ष यह कि पुरुष वर्ग प्राय: स्त्रियों की शिक्षा अपने ही अधिकार क्षेत्र में रखना चाहता था जबकि स्त्री मुक्ति आंदोलन की शिक्षित युवतियों ने इसे नकार दिया और स्त्रियों के सर्वांगीण विकास का लक्ष्य सामने रखा। स्त्री मुक्ति आंदोलन पर स्त्री शिक्षा के परिणामों को लेकर स्त्रियों के पाश्चात्यकरण के आरोप भी लगते रहे। वाद-विवादों, और विरोधों के बीच भी आम भारतीय स्त्री ने शिक्षा को ही अपनी उन्नति का मार्ग जाना और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करती रही।

किसी भी बड़े आंदोलन की तरह स्त्री मुक्ति आंदोलन में भी अन्तर्विरोध बने रहे। पूरे आंदोलन में तीन पक्ष उभर कर सामने आते हैं। एक पक्ष था नारी उन्नति के उन पक्षधरों का जो शिक्षा को अनिवार्य मानते थे। किन्तु स्त्री स्वतंत्रता पर उनके विचार सीमित थे, उनका मानना था कि स्त्रियों को भारतीय संस्कृति में नियत मानदण्डों के अनुसार ही चलना होगा। इसमें प्राय: पुरुष वर्ग था जो शिक्षा से लेकर विधवा-विवाह का समर्थन करता किन्तु अपने वर्चस्व को बनाए रखते हुए। ऐसे वर्ग के लोग अपनी संबंधित स्त्रियों को धर्म व कर्त्तव्य की ही शिक्षा देने वाली पुस्तकें व पत्रिकाएँ उपलब्ध कराते। स्त्रियों के अधिकारों व उनके प्रति न्याय से उनका सरोकार न था।

दूसरा पक्ष उन स्त्री लेखिकाओं व सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का है जो स्त्री स्वतंत्रता के पक्ष में होते हुए भी पति परमेश्वर वाली परंपरा को जीवित रखना चाहती थी उनका तर्क था कि स्त्रियों को सुरक्षा व सहारे के लिए पुरुषों की आवश्यकता है। 'पति सेवा' 'स्त्री धर्म' जैसे लेखों को पढ़कर 'गोदान' की पंक्तियां याद आती हैं, 'जिन पावों के नीचे अपनी गर्दन दबी हो उन्हें सहलाने में ही कुशल है।' ऐसा नही है कि 'पति सेवा' की लेखिका लावण्यप्रभा सरकार

और 'स्त्री धर्म' की लेखिका पद्मावती तत्कालीन शिक्षा व ज्ञान के प्रसार को नहीं जानती थी या स्त्री पुरूष समानता का तर्क उन्होंने कभी सुना ही न होगा लेकिन दोनों ही लेखों में पति की सेवा और भक्ति करने वाली स्त्रियों का देवता, समान गुणगान किया है। इसके समान विचारों वाली बहुत-सी स्त्रियां तब सक्रिय थी और सामान्यत: पुरुषों का समर्थन तो उन्हें मिला ही हुआ था।

तीसरा एक पक्ष जो स्त्री मुक्ति आंदोलन का है वह वास्तविक स्वाधीनता का है स्त्रियों का सभी विषयों पर अपने निश्चय व फैसलों का समर्थन करना। स्त्रियों से जुड़े त्याग, संयम और पुरुष भक्ति जैसे पाखण्डों के खोखलेपन पर स्त्रीवादी नेताओं ने तीव्र व्यंग्य किए। उनका तर्क था कि त्याग, संयम व श्रद्धा जैसे गुण ज़न्मजात सबमें होते हैं उन्हें ऊपर से थोपने व आरोपित करने की अनिवार्यता स्त्रियों पर ही क्यों? क्या पुरुषों के लिए ये गुण ग्रहणीय नही है? उमा नेहरू स्त्री आन्दोलन में स्त्री पुरुष समानता की प्रबल समर्थक थी। पितृसतात्मक ढांचे में निहित स्त्रियों की गुलामी को उन्होंने पहचाना और उस पर प्रबल प्रहार भी किए। 1918 में 'स्त्री दर्पण' पत्रिका के मई अंक में वे लिखती है - "ऐसे आत्म त्याग, जो साफ तौर पर एक के शरीर और आत्मा का नाश करते हैं, दूसरे के लालच, स्वार्थ अन्याय के लिए, वह त्याग नहीं आत्महत्या है।"[26] उमा नेहरू का स्त्रीवाद आज के नारी आंदोलनों के समकक्ष पड़ता है किन्तु शताब्दी के प्रारम्भ में उनके विचारों को अपेक्षित स्थान नही मिला जबकि उस तरह की स्त्रियां ही स्त्री की पूर्ण स्वतंत्रता व अधिकारों के प्रति सचेत थी।

स्त्री मुक्ति आन्दोलन के आपसी मतभेदों ने स्त्रियों के पुरुषों के बराबर अधिकारों की मांग को उतना सशक्त नहीं रहने दिया, आंदोलन की अन्य कार्यकर्त्ता इस पर एकमत नही थी। यदि आंदोलन एकजुट होकर कार्य करता तो इस दिशा में समाज के समीकरण दूसरे होते। स्त्रीमुक्ति आन्दोलन में राजनैतिक हस्तक्षेप भी स्त्रियों के समानाधिकार, वाले पक्ष के पिछड़ेपन का कारण बना।

बालगंगाधर तिलक ने जहाँ शिक्षा में स्त्रियों का विरोध किया तो महात्मा गांधी ने विधवा जीवन को नमन किया। सीता की पवित्रता और सावित्री के सतीत्व के शताब्दियों पुराने आदर्शों को तत्कालीन वर्तमान स्त्रियों के सामने रख दिया। भारतीय स्त्री के दैवीय रूप का महिमा मंडन करते समय पुरुष महापुरुष भूल गए कि स्त्री मानवी भी है, मानव का दर्जा ही समाज में रहने योग्य बनाता है। परन्तु उस समय गांधी जी के विचारों का प्रभाव, तत्कालीन किसी भी स्त्री आंदोलन नेत्री से अधिक स्त्रियों के मन पर पड़ा। गांधी जी की 'लॉरजर देन लाइफ' इमेज स्त्री आन्दोलन के सब तर्कों से ऊपर थी।

स्त्री मुक्ति आंदोलन के सभी नेता कुछ महत्त्वपूर्ण मसलों पर एकमत थे जिनकी स्त्रियों के मानसिक व सामाजिक स्तर को सुधारने में महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

1. आर्थिक स्वतंत्रता।
2. न्यायिक स्वतंत्रता।
3. वैवाहिक संबंधों में स्वतंत्रता।

20वीं सदी से स्त्रियों में व्यावसायिक शिक्षा का प्रारम्भ होता है। बहुत सी स्त्रियां, वकील, डाक्टर, वैज्ञानिक बनी। स्त्रियों का विदेशों में पढ़ना अब चर्चा का विषय नहीं बनता था। समाज के स्त्री-पुरुष कार्यक्षेत्र के विभाजन से अलग जाकर स्त्रियों ने नर्स डाक्टर वकील, अध्यापन आदि पेशों को अपनाया व स्वयं अपनी जीविका अर्जित करने लगी जिसमें साधारण मध्यमवर्गीय परिवारों में आत्मविश्वास व अहंसंतुष्टि का भाव भी आया। स्त्रियों ने घर और बाहर दोनों क्षेत्रों में सफल रहकर यह प्रमाणित किया कि वे पुरुषों से अधिक सक्षम हैं। स्त्रियों की सुकुमारता को अल्पबुद्धि से जोड़ने वाले पुरुषों के लिए यह एक अच्छा जवाब था।

न्यायिक स्वतंत्रता के मसले पर महिला राजनेताओं से लेकर आम स्त्रियां तक एकमत थी। बहु विवाह पर कानूनन रोक, तलाक को कानूनी मान्यता, वोट देने और चुनाव लड़ने का अधिकार प्रमुख मांगे थी जो स्त्रियों की राजनीतिक व सामाजिक स्थिति को मजबूत करने के लिए उठायी गयी थी।

विवाह की प्रक्रिया को सुधारने में सर्वप्रथम, कन्या की सहमति असहमति को प्राथमिकता दी गयी पिता की ही भूमिका को सर्वोपरि न मानकर लड़का व लड़की की पसंद नापसंद पर अधिक बल दिया गया और इससे जुड़े सुखी वैवाहिक जीवन का संदेश प्रसारित किया। विवाह के बाद 'पति ही सर्वस्व' वाली मन:स्थिति से स्त्रियों को निकालना व उनके मनोबल को मजबूत करना स्त्री आंदोलन का उद्देश्य था इसकी पूर्ति के लिए धार्मिक ग्रन्थों और नीतिशास्त्रों की अप्रासंगिकता पर जोर देते हुए उनकी व्यर्थता का बोध करवाया गया। तत्कालीन वर्तमान समाज में उनकी अर्थहीनता और असामाजिकता पर लेख भी प्रकाशित हुए। स्त्रीदर्पण, 1917 के अप्रैल अंक में प्रियम्वदा भारती का लेख 'नीतिशास्त्र में स्त्रियों की दुर्दशा' प्रकाशित हुआ था इसमें चाणक्य व अन्य नीतिकारों की दृष्टि में स्त्री की हेयता पर आलोचनात्मक टिप्पणियाँ हैं। नीतिग्रन्थों में स्त्री को निकृष्ट जीव बताया गया है। लेख में इस पर खूब व्यंग्य है व इस बात पर बल दिया है कि किसी के व्यक्तिगत अनुभव पूरी स्त्री जाति के अपमान का कारण नही बन सकते। स्त्रियों को गृहिणी के अधिकारों से परिचित कराया गया दासी के स्थान पर स्वामिनी के भाव को ही महत्त्व दिया गया।

अंतत: स्त्री की स्वतंत्र मानव के रूप में पहचान के लिए जो सतत् संघर्ष 19वीं सदी में शुरू हुआ व विवेचित युग तक जारी रहा।

संदर्भ ग्रन्थ-सूची

1. लेख-'सती प्रथा का रक्त रंजित इतिहास', लेखक-शिवसहाय चतुर्वेदी पत्रिका-'चाँद' 1926, संपादक-रामरख सिंह जी सहगल, इलाहाबाद। संपादक द्वारा दिए गए फुटनोट से उद्धृत।
2. वीमेन इन महाराष्ट्र-वाई0डी0 फड़के पृ0-11
3. भारतेन्दु ग्रन्थावली, (पहला खण्ड) सं0-शिवप्रसाद मिश्र-पृ0-99।
4. वही, पृ0-9
5. लेख-स्त्री मुक्ति आंदोलन का आरंभ : 'स्त्री दर्पण' पत्रिका राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य। लेखक-वीर भारत तलवार, पृ0-122
6. लेख-'सोशल वर्क इन बाम्बे', लेखक-मिथेन चौकसी, मार्डन वीमेन इन इण्डिया-सं0-ऐविलियन-सी-जेड्स, पृ0सं0-48।
7. लेख-'द स्टेट्स ऑफ वीमेन इन इण्डिया' लेखिका-श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय, मॉर्डन वीमेन इन इण्डिया-सं0-ऐविलियन-सी-जेड्स, पृ0-7।
8. लेख-'पत्र-पत्रिकाएं और उनका साहित्यिक योगदान'- लेखिका-डॉ0 कुसुम अग्रवाल, हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास, सं0-सुधाकर पाण्डे। पृ0-158।
9. पूर्व उद्धृत, लेख-'प्राचीन भारत में समाचार पत्र।' लेखिका-डॉ0 माहेश्वरी नरेश, हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास-सं0-लक्ष्मी नारायण सुधांशु। पृ0-160
10. 'सुधा' फरवरी, 1929
11. 'सरस्वती', फरवरी, 1910
12. 'प्रभा' जुलाई, 1920
13. 'स्त्री-दर्पण' अगस्त 1920

15. लेख-'स्त्री मुक्ति आंदोलन का आरम्भ : स्त्री दर्पण पत्रिका' राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य-डॉ0 वीरभारत तलवार, पृ0-126
16. 'स्त्री-दर्पण', 1918
17. स्त्री-समस्या, लेखक-मुकुट बिहारी शर्मा
18. लेख-'बुराई का मूल'- लेखक-मुकुट बिहारी शर्मा, स्त्री समस्या, पृ0-134
19. पूर्व उद्धृत, (क्लेक्टिड वर्क्स आफ महात्मा गांधी VOL-22) लेख-'द राइज आफ वीमेन आर्गेनाइजेशन' इण्डियन वीमेन मूवमेंट, लेखिका-मैत्रयी चौधरी।
20. लेख-स्त्री मुक्ति आंदोलन का प्रारम्भ : 'स्त्री दर्पण' पत्रिका, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य, लेखक-डॉ0 वीर भारत तलवार, पृ0-131
21. वही, पृ0सं0-133
22. 'सरस्वती', फरवरी, मार्च, 1903
23. 'मर्यादा', मार्च, 1913
24. 'स्त्री-दर्पण', जनवरी, 1917
25. 'विशाल भारत', मार्च 1929
26. पूर्व उद्धृत ('स्त्री-दर्पण', 1918), लेख- 'फेमिनिस्ट कांशियसनेस इन वीमेन्स जरनल इन हिन्दी 1910-1920' लेखक-वीर भारत तलवार, रिकास्टिंग वीमेन-सं0-कुमकुम शांगरी, सुदेश वैद।

अध्याय - 3

बंग महिला की स्त्री चेतना : एक तुलनात्मक अध्ययन

चेतना का शाब्दिक अर्थ है- सावधान होना । अपनी स्थिति के बारे में सोच-विचार करना ही चेतना है। बंगमहिला का समय जन-चेतना का समय था। देश, समाज और व्यक्ति का अपनी स्थिति के प्रति एक साथ सावधान होना नवजागरण या सुधारकाल के नाम से जाना जाता है। हिन्दी साहित्य में यह काल भाषा के परिष्कार का काल है तो समाज में विभिन्न आन्दोलनों के तीव्रतर होते जाने का समय है।

बंगमहिला अपने समय और अपनी स्थिति के प्रति पूर्ण जागरूक महिला थी। सभी भारतीयों के समान गुलामी की पीड़ा उन्हें भी सालती थी। 1904 में 'इण्डियन ऑफिशियल सेक्रेट्स' एक्ट के अनुसार प्रेस की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगा दिया था। 1904 में ही 'सरस्वती' पत्रिका में सरकार के प्रति रोष और व्यंग्य उपालंभ से भरा निबंध प्रकाशित हुआ जिसकी लेखिका बंगमहिला थी, निबंध का शीर्षक था- 'चन्द्रदेव से मेरी बातें'। 1905 में बंग-भंग विरोधी आन्दोलन ने जोर पकड़ा जिसका प्रभाव पूरे देश पर पड़ा । 1908 में स्वदेशी की भावना को विषय बना कर लिखी कहानी 'भाई-बहन' 'बाल प्रभाकर' में प्रकाशित हुई। इस कहानी का उद्देश्य बालकों में स्वदेशी की भावना को प्रोत्साहित करना था।

साहित्य में उस समय ऐतिहासिक या पौराणिक पात्रों को काव्य या लेखादि का विषय बनाकर अतीत का गौरव-गान करने की परम्परा शुरू हुई थी। अतीत

की घटनाओं अथवा पात्रों से प्रेरणा ग्रहण करना, उनका चित्रण करना, अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता को सिद्ध करने और गर्व अनुभव करने का एक तरीका बन गया था। 1905 में 'सरस्वती' में प्रकाशित बंगमहिला का 'जोधाबाई' लेख इसी परम्परा की कड़ी है। इसमें मुस्लिम शासकों को हिन्दू रानियों की संताने सिद्ध किया है और हिन्दू रानियों की धर्मनिष्ठता का बखान किया है। 'जोधाबाई' से बंगमहिला के नारी विषयक लेखों का प्रारम्भ होता है। इसके बाद विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में उनके मौलिक व अनूदित लेख प्रकाशित हुए जिनका विषय प्राय: 'स्त्री' है। अनूदित लेख व कहानियाँ भी प्राय: ऐसे चरित्रों व घटनाओं से संबंधित है जो भारतीय संस्कृति की अवधारणा को पुष्ट करते हैं। जैसे 'अपूर्व प्रतिज्ञापालन' (कुसुम संग्रह में संकलित), 'पति सेवा' (भारतेन्दु पत्रिका), 'नारी रत्न भगवती देवी' (लक्ष्मी-1910), 'रामायण की समालोचना' (लक्ष्मी-1910), 'दालिया' (सरस्वती-1909) प्रमुख हैं। सभी बंगला से अनूदित रचनाएँ हैं।

बंग महिला की स्त्री-चेतना

बंग महिला के जीवन-काल में राष्ट्रीय आंदोलन अपनी तेजी पर था। यहाँ तक कि सामाजिक आन्दोलन भी राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव में थे। 1900 से पूर्व समाज में सुधार आन्दोलन प्रमुख था जबकि 1900 के बाद व्यक्ति, समाज और राजनीति में बदलाव स्पष्ट नजर आने लगा। तीनों का आपस में अन्त:संबंध था। स्त्री-मुक्ति आन्दोलन तीनों से प्रत्यक्ष या परोक्ष जुड़ता था।

1904-1905 के बाद से यह एक प्रमुख सामाजिक आन्दोलन बन गया था जो केवल स्त्री दशा सुधार के जरिए समाज सुधार तक सीमित नही था। स्त्री-चेतना का असर राजनीति व समाज के साथ साहित्य पर भी पड़ा।
राजेन्द्रबाला घोष के स्त्री संबंधी विचार उनके लेखों से पता चलते हैं। व्यक्तिगत अनुभव और समष्टिगत यथार्थ साहित्य में प्रकट हुआ । 1906 में 'वनिता विनोद'

में उनका स्त्रियों की शिक्षा की आवश्यकता व उपयोगिता विषय पर एक निबंध प्रकाशित हुआ- 'स्त्रियों की शिक्षा'। उक्त लेख में बंग महिला ने अपने समय के एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न को उठाया है। शिक्षा के महत्त्व को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से समझा गया है। शिक्षा की उपयोगिता व व्यवहारिक प्रयोग के साथ ही वे अपने लेख में शिक्षा को स्वाभिमान व ज्ञानार्जन से जोड़ती है। स्त्री-शिक्षा से जुड़े मिथ्या भ्रमों व अंधविश्वासों का बंगमहिला ने विरोध किया। वे लिखती हैं- ''कोई-कोई स्त्री-शिक्षा के विरोधी कहेंगे कि स्त्रियाँ पढ़ने-लिखने से मेम साहिबा बन जायेंगी, तो घर के काज कौन करेगा?, कोई कहेंगे कि स्त्रियाँ पढ़कर क्या करेंगी? क्या उन्हें धनोपार्जन करना है? कोई तीसरे महाशय कह बैठेंगे कि पढ़ने से तो स्त्रियाँ निर्लज्ज हो जाऐंगी। किन्तु विचारपूर्वक देखने से सब युक्तियाँ मिथ्या निकलेंगी। यदि धन कमाने के लिए विद्या सिखलाना है तो धनवान् पुरुष क्यों विद्योपार्जन करते हैं? शिक्षिता होने से लज्जाहीना हो जाने का कोई कारण नही''[1] स्त्री-शिक्षा से जुड़े अंधविश्वासों का खण्डन करने का मंतव्य यही था कि बंगमहिला इन रूढ़ियों को प्रचलित होने से रोकना चाहती थी, जिससे कन्याओं का विद्यालय जाना बाधित न हो। 'स्त्री के शिक्षा ग्रहण करने पर वह विधवा हो जाती है।' बंगाल में ऐसा मिथ्यारोपण प्राय: स्त्रियों पर होता था। बंगमहिला ने अपने 'स्त्रियों की शिक्षा' लेख में इसका भी विरोध किया। स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में सरकारी महकमों की लापरवाही व भेदभावपूर्ण नीति पर भी कटाक्ष किया है। उक्त लेख में बंगमहिला लिखती है- ''ब्रिटिश गवर्नमेंट की कृपा से हिन्दू बालकों की शिक्षा के अनेक उपाय हैं किन्तु हिन्दू बालिकाओं के लिए उचित शिक्षा का कोई प्रबंध नहीं है।''[2] इसके अलावा मिशनरी स्कूलों से होने वाले सांस्कृतिक खतरों से भी वे परिचित थी। उन्होंने लिखा है-'कहना न होगा कि इससे हमारे देश को लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होगी' तथा वहाँ तो प्रभु ईसू मसीह के भजन पढ़ाने की चाह ही अधिक रहती है।'' मिशनरी विद्यालयों में पढ़ने वाली

कन्याओं व उनके अभिभावकों से उनका मेल-जोल अवश्य रहा होगा। बंगमहिला स्वयं एक शिक्षित व प्रतिष्ठित परिवार से थी।

बंगमहिला दूरदर्शी थी तथा एक कुशल समाजशास्त्री की तरह उन्होंने स्त्रियों के भविष्य के बारे में भी सोचा। स्त्री अपनी संतान को दिशा दिखाने व मार्ग प्रशस्त करने में सबसे सक्षम हो, इसीलिए शिक्षा को बंगमहिला सर्वाधिक महत्त्व देती है। उनका मानना है कि यदि अपनी संतान से आदर के साथ-साथ विश्वास पाना है तो अपनी संतान को दिशा-निर्देश देने में माता का शिक्षित होना आवश्यक है। बंगमहिला ने इस सन्दर्भ में एक बंगला पत्र से उदाहरण भी दिया कि किस प्रकार शिक्षित न होने पर पुत्र से ही कष्ट उठाना पड़ता है। अपने 'स्त्रियों की शिक्षा' लेख में वे आगे लिखती हैं- ''उन्नत चरित्र, उदार हृदय, सत्यवादिनी, सुशिक्षित और स्वधर्मपरायण होने से माता-सुमाता हो सकती है और केवल सुशिक्षा से ऊपर कहे सब गुण सहज में प्राप्त हो जाते हैं।''[3] शिक्षा के महत्त्व के साथ-साथ बंगमहिला ने शिक्षा की राह में आने वाली समस्याओं पर भी विचार किया। उस समय परदे की प्रथा स्त्रियों के विकास को अवरुद्ध किए हुए थी। शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्यालय तक जाना ही सबसे बड़ी समस्या बनी हुई थी। बंगमहिला ने परदे और बाल-विवाह दोनों का विरोध किया। बाल-विवाह के कारण जो बालिकाओं को विद्यालय छोड़ना पड़ता उस यथार्थ स्थिति का बंगमहिला अपने लेख 'हमारे देश में स्त्रियों की दशा' में खुलासा करती है- ''किन्तु मेरी समझ में हिन्दू परिवार की कुलवधुओं को यह दोनों अधिकार मिलना बहुत कठिन है। कुलवधू इसीलिए लिखा कि बाल-विवाह का हिन्दुओं में अटल राज्य है।''[4] कन्याएँ न कहकर सीधा कुलवधू कहना स्त्रियों की विडम्बना को दर्शाने के लिए पर्याप्त है। परदे की वजह से शिक्षा में अवरोध का वे विरोध करती है-''परदे वाली स्त्रियों को कदापि स्वाधीनता नहीं मिल सकती, इसी कारण से उन्हें शिक्षा भी नही मिलती। उच्च शिक्षा के साथ स्वाधीनता का

घनिष्ठ सम्बन्ध है। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए कम-से-कम घर से विद्यायल जाने और अध्यापकों से पाठ लेने या उनके पास परीक्षा देने की स्वाधीनता की बड़ी जरूरत है।''[5]

'स्त्रियों की शिक्षा' और 'हमारे देश में स्त्रियों की दशा' दोनों लेखों में स्त्री शिक्षा की व्यवहारिक उपयोगिता बताते हुए व्यक्तित्व निर्माण में शिक्षा का महत्त्व बताया है। बंगमहिला शिक्षा को सीधे स्वाधीनता व स्वाभिमान से जोड़ती है। 'हमारे देश में स्त्रियों की दशा' लेख में उन्होंने महाराष्ट्र और गुजरात की स्त्रियों का उदाहरण दिया कि वे हिन्दी प्रदेश की स्त्रियों से अधिक शिक्षित हैं इसलिए उनमें आत्मविश्वास अधिक है। बंगमहिला ने अपनी कहानियों और लेखों में उच्च मध्यमवर्गीय महिलाओं की जीवन-शैली को स्पष्ट किया है और उनकी पारिवारिक व सामाजिक स्थिति को बिना किसी लाग-लपेट के दिखाया है। सामान्य जन में स्त्रियों की दबी-ढ़की छवि को सम्माननीय समझा जाता था। इसके लिए प्राय: 'भले घर की स्त्रियाँ' शब्द पद का प्रयोग होता था। बंगमहिला के लेखन में भी इसका प्रयोग हुआ है। 'दुलाई वाली' कहानी में वे लिखती है, ''उनके पास वाले कमरे में एक भले घर की स्त्री बैठी थी। वह बेचारी सिर से पैर तक ओढ़े, सिर झुकाए, एक हाथ लम्बा घूँघट काढ़े, कपड़े की गठरी-सी बनी बैठी थी।''[6] 'दुलाई वाली' कहानी में स्त्रियों के परस्पर वार्तालाप और वातावरण-चित्रण है, जिससे स्त्रियों की तात्कालिक असहाय स्थिति का पता चलता है। इसी तरह 'भाई बहन' की बालिका 'सुंदर' भाई से कम में ही संतुष्ट रहना सीख गयी है। ''सुंदर की माँ प्राय: उससे कहा करती थी 'बेटी, तुम भैया से छोटी हो न, तुम्हें सबचीज में भैया से कमती हिस्सा लेना चाहिए।''[7]

इस प्रकार के छोटे-छोटे कथन बंगमहिला के व्यवहारिक अनुभव से जुड़े थे। स्त्री-मुक्ति से प्रभावित बंगमहिला ने भारतीय स्त्री की विसंगतियों को शान्त व सहज भाव से दिखाया है किन्तु उसके पीछे उनका उद्देश्य स्त्री के प्रति

जागरूकता भी है। उन्होंने अपने लेखन के माध्यम से दिखाया है कि किस प्रकार 'सम्माननीय' होकर भी स्त्रियाँ परिवार में ही भेदभाव व असमानता का शिकार थी।

बंगमहिला ने कही-कही नारी स्वतंत्रता का खुला समर्थन भी किया है। उस समय पाश्चात्य संस्कृति की कटु आलोचना करना एक फैशन-सा बन गया था। विदेशी स्त्रियों के विषय में प्राय: नकारात्मक वक्तव्य दिये जाते थे। बंगमहिला ने अपने एक लेख 'हमारे देश में स्त्रियों की दशा' में पश्चिम में दाम्पत्य संबंधों को अनुकरणीय व सही बताया। वे लिखती हैं- ''सभ्य देश की स्त्रियाँ विद्या में, बुद्धि में, उम्र में, स्वाधीनता में, खाने मे, पहनने में, घूमने-फिरने में, यहाँ तक कि पत्यंतर ग्रहण करने में भी पति की बराबरी कर सकती है। इसमें पूर्वानुरागमूलक विवाह प्रचलित होने से पति-पत्नी में सखा-सखि का भाव उत्पन्न हो जाता है। हिन्दू वनिता पति के साथ विद्या, बुद्धि, वय इत्यादि किसी बात में भी बराबरी नहीं कर सकती। विवाह के उपरान्त हिन्दू बालिका जिस गुरुभाव से पति को देखती है, वह भाव चिरकाल तक उसके मन में बना रहता है।''[8]

पश्चिमी सभ्यता की ग्रहणीय बातों को बंगमहिला स्वीकार करती है जिनमें स्त्रियों को समानता व स्वतंत्रता का अधिकार मिले। कम-से-कम मानवीय अधिकारों पर तो स्त्रियों का हक है ही, इस बावत वे हिन्दू संस्कृति की संकीर्णता का विरोध करती है। कटु व्यंग्य में वे लिखती है-''अशिक्षिता हिन्दू नारी पतिभक्ति, पति-प्रीति को अंत:सलिला फल्गु नदीवत् हृदय में धारण कर आजीवन पतिव्रत धर्म का पालन करेगी और कहेगी-

तुम लाख उनीति करै तो करौ
हमे नेह को नातौ निबाहनो है।''[9]

बंगमहिला की स्त्री चेतना उनके लेखन में दबी-ढकी है। कही-कही व्यंग्य व यथार्थ चित्रण के माध्यम से प्रकट है, कही मुखर भी है

बंगमहिला के स्वयं के उच्चवर्गीय जीवनानुभव व घर-परिवार का माहौल उनके पूरे लेखन पर व्याप्त है। बंगमहिला हिन्दी साहित्य की प्रथम महिला लेखिका है, जिन्होंने स्त्री-जागरूकता सम्बन्धी विषयों पर लेख लिखे। बंगमहिला से हिन्दी साहित्य में नारी स्वाभिमान व स्वाधीनता जैसे भावों को यथासंभव स्थान मिला।

बंगमहिला व समकालीन साहित्यकार

सामाजिक विषय साहित्य में प्रारम्भ से ही लोकप्रिय रहे हैं। किन्तु 19वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में समाज-सुधार आन्दोलन के जोर पकड़ने से जीवन के सभी क्षेत्रों में आंदोलन का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता था। भारतेन्दु व उनके नाटकों से लेकर सदी के अन्त में सुधारवादी उपन्यासों तक जागरण के स्वर ही गूँजते रहे। 'परीक्षागुरु' हिन्दी का पहला उपन्यास समाज सुधार विषय पर लिखा गया था। इसमें युवाओं पर पश्चिमी शिक्षा के कारण पड़ते पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव व उसके दुष्परिणामों को उपन्यास का विषय बनाया। इस श्रेणी के उपन्यासों में बालकृष्ण भट्ट का 'सौ अजान एक सुजान' (1892), श्रीनिवास दास का 'परीक्षा गुरू' (1882), मेहता लज्जाराम का 'स्वतंत्र रमा परतंत्र लक्ष्मी' (1899) प्रमुख हैं।

बंगमहिला के लेखनकाल से कुछ पहले तक स्त्री-चेतना सामाजिक चेतना की ही एक अंग थी। स्त्री की समस्याओं को अलग करके नहीं देखा गया था। समाज की अन्य समस्याओं जैसे छुआछूत, अशिक्षा जैसी आम समस्याओं के साथ ही परदाप्रथा, विधवाप्रथा व बालविवाह आदि भी आंदोलन का हिस्सा थे। स्त्रियों की व्यक्तिगत समस्या को लेकर ठाकुर जगमोहन सिंह ने 1885 में 'श्याम स्वप्न' लिखा था जिसमें प्रेम को परंपरागत विवाह-पद्धति से श्रेष्ठ बताया है।

उपन्यास के साथ-साथ नाटक में भी यह सुधार की प्रवृत्ति बनी रही। विधवा विवाह के समर्थन में राधाकृष्णदास का नाटक 'दु:खिनीबाला' लिखा गया।

पहले इसका नाम ही विधवा विवाह रखा था, लेकिन इस विचार के प्रति चलते आ रहे सामाजिक विरोध को देखते हुए नाम बदल दिया और इसके अंत में भी परिवर्तन कर इसे पुनः प्रकाशित किया।[10]

हिन्दी में द्विवेदीकाल 20वीं शताब्दी के आरम्भ होने के साथ शुरू होता है। बंगमहिला का लेखनकाल द्विवेदी काल के अन्तर्गत आता है। 1904 से 1915 तक बंगमहिला ने हिन्दी में मौलिक व अनूदित लेखन किया।

द्विवेदीकाल हिन्दी भाषा के उत्कर्ष का काल है। ब्रज से खड़ीबोली में साहित्य की भाषा परिवर्तित हो रही थी। चमत्कारिकता व श्रृंगारिकता, इतिवृत्तात्मकता व नैतिकता में बदल रहे थे। हिन्दी साहित्य की विषय-वस्तु में बदलाव आ रहा था। भारतेन्दु युग की काम-चलाऊ खड़ी बोली का स्थान संस्कृतनिष्ठ भाषा ले रही थी।

साहित्य में आम जनता की समस्याएँ व उनके सुधार आदि भारतेन्दुकाल से ही जगह बनाने लगे थे, किन्तु द्विवेदी काल तक आते-आते समाज, निबंधों व नयी विधा कहानी में स्थान बनाने लगा। काव्य में राष्ट्रीय नवजागरण के स्वर सुनायी देने लगे तो नाटकों में संस्कृति की महिमा का गुणगान हुआ।

द्विवेदीकाल की हिन्दी साहित्य को प्रमुख देन है- कहानी। कहानी का जन्म और विकास इसी काल में हुआ। बंगमहिला की प्रसिद्ध कहानी 'दुलाईवाली' (1890) हिन्दी साहित्य की आरम्भिक कहानियों में से है। 1906 में प्रकाशित 'कुंभ में छोटी बहू' विवादास्पद होने के कारण बंगमहिला की प्रथम कहानी नहीं ठहरती। बंगमहिला के समकालीन अन्य कहानीकारों की अपेक्षा अपनी कहानियों में यथार्थ चित्रण पर अधिक ध्यान दिया है। किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' (1901) कहानी एक प्रेमकथा है किन्तु वास्तविकता के धरातल से दूर है। रामचन्द्र शुक्ल की कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' (1903) में प्रकाशित हुई। इस कहानी पर कौतूहल और रहस्य रोमांच अधिक प्रभावी रहा है। कहानी में समाज से जुड़ी

किसी समस्या या घटना का पता नहीं चलता। 1906 और 1907 के सरस्वती अंक में प्रकाशित पार्वतीनन्दन की 'मेरा पुनर्जन्म' और 'एक के दो-दो', दोनों कहानियाँ बंगमहिला की 'दुलाईवाली' कहानी के समकालीन है। 'मेरा पुनर्जन्म' की मौलिकता संदेहास्पद है। 'एक के दो-दो' राजा राजकुमार और परिकथाओं जैसी कहानी है।

बंगमहिला की कहानियों और पात्रों में जो वास्तविकता और सहजता मिलती है वह उनके काल के अन्य कहानीकारों में कम है। बंगमहिला की कहानियाँ सामाजिक होती है। कपोलकल्पित रहस्य से भरपूर मनोरंजन वहाँ नहीं मिलता। 'भाई बहन' (1908), 'कुंभ में छोटी बहू' (1906), 'हृदय परीक्षा' (1915) आदि सभी कहानियों में नारी पात्र मुख्य है अथवा मुख्य पात्र के उद्‌बोधक हैं। स्त्री मनोवृत्ति को ध्यान में रखकर, समाज में यथार्थ स्थिति का दर्शन कराया गया है। बंगमहिला की कहानियों का विषय परिवार होता है और स्त्री पात्र गृहणियाँ, जिनके चारों ओर परिस्थितियों का ऐसा ताना-बाना बुना जाता है कि उनकी वास्तविक स्थिति उजागर हो जाती है। बंगमहिला की कहानी में मुख्य विषय चाहे वातावरण या चरित्र-चित्रण हो अथवा सामाजिक चेतना व जागरण, किन्तु माध्यम के रूप में पात्रों व परिस्थितियों का चयन उनके व्यक्तिगत अनुभव व प्रतिभा के अनुरूप होता है। उस समय जबकि तिलस्मी, जासूसी व राजकथाओं का बोलबाला था, बंगमहिला अपने समय के ज्वलंत विषय स्त्री की सामाजिक भूमिका को पारिभाषित कर रही थीं। स्त्री के प्रति समाज की गलत सोच, रूढ़िगत मानसिकता को तो वे कहानियों में दिखाती ही थी, स्त्री का सहज भाव से उसी मानसिकता के अनुरूप ढलने का वे उतना ही मार्मिक व वास्तविक चित्रण करती है। बंगमहिला की कहानियों के नारी पात्रों में विद्रोह का स्वर नही होता, किन्तु व्यंग्य, कटाक्ष व टिप्पणियों द्वारा वे स्त्री की दीनहीन स्थिति याद दिलाना नहीं भूलती। 'कुंभ में छोटी बहू' में प्रयाग में कुंभ में जाने के अवसर पर बहू के ससुर जाने

से मना कर देते हैं- "प्रयाग! कुंभ के मेले में ! राम राम !! वहाँ पर जाना बहू-बेटियों का काम नही ।"[11] जिससे कुंठित होकर छोटी बहू जाने का दूसरा उपाय करती है। 'दुलाईवाली' कहानी में ऐसा प्रकरण जो सामान्य रूप से प्रचलित रूढ़ियों को दर्शाता है जिनकी गणना स्त्री समस्या या सुधार आंदोलन में नही की जा सकती थी, किन्तु मानसिकता को बदलने के लिए ऐसी रूढ़ियों का बदलना जरूरी था और आज भी है। "जाते-जाते वंशीधर विचारने लगे कि इक्के की सवारी तो भले घर की स्त्रियों के बैठने लायक नहीं होती क्योंकि एक तो उतने ऊँचे पर चढ़ना पड़ता है, दूसरे पराए पुरुष के साथ बैठना पड़ता है। मैं एक पालकी गाड़ी ही कर लूँ ।"[12] बंगमहिला की जैसी अचूक पकड़ जनसामान्य पर थी वैसी उस काल के कहानीकारों की न थी। वाक्यों की बनावट, संवाद और भाषा के साथ वातावरण का यथावत् चित्रण उन्हें प्रेमचंद की कहानियों के समकक्ष रखता है।

बंगमहिला के अतिरिक्त पार्वतीनन्दन व गिरिजादत्त वाजपेयी ने सामाजिक कहानियाँ लिखी। स्वभाव की जैसी सरल व्याख्या बंगमहिला के स्त्री पात्रों में है वैसी इन साहित्यकारों में नही है। कहानियों में प्राय: घटनाओं का दुश्चक्र है या भावों की अतिरंजित व्याख्या। लाला पार्वतीनन्दन की कहानी 'प्रेम का फुआरा' नारी मनोभावों को विषय बना कर लिखी है किन्तु भावों का यथावत् निर्वाह अंत तक नहीं हो पाया। 1903 में गिरिजादत्त वाजपेयी की कहानी 'पण्डित और पण्डितानी' एक प्रसिद्ध कहानी है। इस कहानी में अनमेल विवाह को आधार बना कर हास्य-व्यंग्य की सृष्टि की है। इस कहानी का विषय तत्कालीन संदर्भो के उपयुक्त है। भवदेव पाण्डे मानते हैं कि "कहानी की व्यंजकता भी मन को कुरेदने में सफल होती है जो उस समय की कहानियों में नयी बात थी। यदि 'पण्डित और पण्डितानी' में तोता वाली प्रस्तुति उवाऊ न हुई होती तो यह कहानी बंगमहिला की दोनों सामाजिक कहानियों 'कुंभ में छोटी बहू' और 'दुलाईवाली' से अच्छी

सिद्ध हुई होती ।''[13] बंगमहिला ने अपनी कहानियों में अनिवार्य रूप से कथानक रूढ़ियों का सहारा नहीं लिया। तोते के मुख से कहानी कहना, राजकुमार के साथ राक्षस का होना, अंत में किसी रहस्योद्‌घाटन से कहानी का समापन होना आदि। 'दुलाईवाली' में एक कौतूहल का स्पर्श है, पर वह जासूसीपन और रहस्य से भिन्न है। इसी कारण बंग महिला की कहानियाँ जीवंत व वास्तविक है। बंग महिला के लेखन काल में प्रकाशित कहानियों में से कुछ ही सामाजिक विषयों पर अपनी पकड़ मजबूत रख पायी। बंगमहिला की कहानियाँ 'भाई-बहन', 'कुंभ में छोटी बहू', 'दुलाईवाली' इसी श्रेणी में आती हैं।

कहानी और उपन्यास की अपेक्षा द्विवेदी काल में काव्य व निबंध का प्रचार-प्रसार अधिक हुआ। नाटकों के विषय ऐतिहासिक व पौराणिक रहे। राम व कृष्ण के चरित्र को नाटकों का विषय बनाया गया बशर्ते उसके रूप में नाटककार की रुचि के अनुरूप परिवर्तन भी होते रहे। राधाचरण गोस्वामी का 'श्री दामा' (1904) शिवनन्दन सहाय कृत 'सुदामा' (1907), ब्रजनन्दन सहाय का 'उद्धव' (1909) कृष्ण चरित्र को परिभाषित करते नाटक हैं तो दूसरी ओर गंगाप्रसाद का 'रामाभिषेक' (1910), गिरधरलाल का 'राम वनयात्रा' (1910) जैसे नाटक राम के पौराणिक चरित्र की व्याख्या करते हैं। ऐसे नाटकों का साहित्यिक महत्त्व न के बाराबर है। ऐतिहासिक नाटकों में वृंदावन लाल वर्मा का 'सेनापति उदल' (1909) लोकप्रिय हुआ। समसामयिक सामाजिक समस्याओं पर इस काल में नाटक बहुत कम लिखे गए। प्रतापनारायण मिश्र के 'भारत दुर्दशा' (1902) में राजनैतिक लहर अधिक है। भगवती प्रसाद का 'वृद्ध विवाह' (1905) और कृष्णानन्द जोशी का 'उन्नति कहाँ से होगी?' (1915) सामाजिक समस्याओं को तो उठाते हैं पर इनमें स्त्री जागरूकता का दूर तक पता नहीं है।

द्विवेदीकाल को यदि निबंध-काल कहें तो ठीक ही होगा। महावीर प्रसाद द्विवेदी स्वयं एक योग्य व प्रसिद्ध निबंधकार थे। उनके निबंधों में साहित्यिक के साथ सामाजिक चिन्ता भी पायी जाती है। उनकी पत्रिका 'सरस्वती' (1903 से

सम्पादन) में सामाजिक विषयों पर लेख प्रकाशित होते थे। किन्तु स्त्री-चेतना के तत्कालीन प्रारूपों पर उनके लेखों में कोई टिप्पणी अथवा आलोचना नहीं पायी जाती। द्विवेदी जी के प्रसिद्ध निबंधों में 'सम्पतिशास्त्र' (1908), 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति' (1907), 'कालिदास की निरंकुशता' (1911), 'क्या हिन्दी नाम की कोई भाषा नही है?' (1913) हैं। सभी साहित्यिक निबंध हैं ।

द्विवेदी जी के अतिरिक्त उन्हीं की परम्परा में श्यामसुंदर दास, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, माधव प्रसाद मिश्र, बाल मुकुंद गुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं। श्यामसुंदरदास ने केवल साहित्यिक निबंध लिखे- जैसे 'भारतीय साहित्य की विशेषताएँ', 'समाज और साहित्य', 'तुलसीदास', 'सूरदास' आदि । चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के 'कछुआ धरम', 'मारेसि मोहि कुठाऊँ', 'विक्रमोर्वशी की मूल कथा' मुख्य निबंध हैं। 'कछुआ धरम' और 'मारेसि मोहि कुठाऊँ' सांस्कृतिक निबंध हैं। भारतीय संस्कृति के गुणगान के साथ-साथ रूढ़ियों व अर्थहीन परंपराओं पर व्यंग्य किया है। दोनों लेखों में संस्कृति को तत्कालीन संदर्भ में रखकर देखने की कोशिश की है। बालमुकुन्द गुप्त अपनी लेखमाला 'शिवशंभु के चिट्ठे' से लोकप्रिय हुए। ये निबंध सरकार के प्रति विरोध का माध्यम थे । उनकी चिट्ठी में प्रशासन की गतिविधियों पर तीखी व्यंग्यात्मक टिप्पणियाँ होती थीं।

इसके अतिरिक्त कृष्ण बिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन जेसे आलोचक व निबंधकार बिहारी और देव में कौन बड़े कवि हैं, के फेर में पड़े रहे ।

1904 से 1915 तक मुख्यत: साहित्यकारों में साहित्यिक व राजनीतिक चेतना का विकास हुआ । काव्य में राष्ट्रीय आंदोलन के प्रतीकार्थ देश प्रेम की लहर प्रवाहित होती है। मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्या सिंह उपाध्याय, 'हरिऔध' दोनों उस काल के मुख्य कवि हैं और दोनों ही के काव्य में राष्ट्रवादी प्रवृत्तियाँ मिलती है। उस समय समाज में दो धाराएँ प्रबल रूप से विद्यमान थी - समाज सुधार आन्दोलन व राष्ट्रवादी आन्दोलन । 20वीं शताबदी में आम जनता पर स्वतंत्रता

संग्राम का प्रभाव अधिक था और 19वीं शताब्दी के अन्त में समाजसुधार का जो 20वीं शताब्दी में गौण हो गया था । भारतेन्दु काल की राष्ट्रभक्ति की परम्परा को कवियों ने ग्रहण किया जिस पर बंगभंग आंदोलन और स्वदेशी आंदोलन के तत्कालिक प्रभाव से और तेजी आ गयी। गुप्त जी की 'भारत-भारती' (1912) राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत है ।

द्विवेदी काल में हिन्दी साहित्य में एक नयी प्रवृत्ति का विकास हुआ । हिन्दू संस्कृति व इतिहास से जुड़े पौराणिक पात्रों को नए नायक के रूप में स्थापित किया गया । प्रतीकार्थ में वे नए जन आंदोलन के वीरोचित नायक थे। गुप्त जी लिखते हैं- ''फिर पूर्वजों की शिक्षा तरंगों में बहो ।''[14] ऐसी पंक्तियां सचमुच राष्ट्रीय चेतना का संचार जनमानस में करती थी । 20वीं सदी के आने तक भारतीय जनता के सामने यह पूर्णतया स्पष्ट था कि किसी भी विदेशी सत्ता को स्वीकार नहीं करना है । 1909 में 'रंग में भंग' में गुप्त जी स्मृति पर जोर देते हुए कहते हैं-

'' आज भी चित्तौर का नाम सुन जादू भरा ।
चमक जाती चंचला सी चित्त में करके त्वरा ।।''[15]

मैथिली शरण गुप्त ने 'साकेत' और 'यशोधरा' जैसे स्त्रीप्रधान चरित्र वाले काव्य की भी रचना की पर वे अतीत का मोह छोड़ नहीं पाए । दोनों ही रचनाएँ स्त्रियों के प्रति परम्परावादी दृष्टिकोण से मुक्त नहीं है।

द्विवेदी युग के दूसरे बड़े कवि हरिऔध हुए । विवेचित कालखण्ड में प्रकाशित कृतियों में 'प्रिय प्रवास' (1914) प्रमुख है। 'प्रिय प्रवास' में कवि कृष्ण को रीतिकालीन रसिक छवि से मुक्त करके उन्हें एक जननायक के रूप में प्रस्तुत करते है। सामाजिक मूल्यों की रक्षा के प्रतीकार्थ उसमें कृष्ण का राधा के प्रति एकनिष्ठ प्रेम दिखाया है । 'ग्रन्थ का विषय' शीर्षक के अन्तर्गत हरिऔध लिखते हैं- ''मैंने श्रीकृष्णचन्द्र को इस ग्रंथ में एक महापुरुष की भाँति अंकित किया है,

ब्रह्म करके नहीं।''[16] काव्य में ईश्वरीय चरित्र को मानव रूप में चित्रित किया है जो कर्म की प्रेरणा देता है। किसी सामाजिक समस्या को न उठाकर पूरे समाज के कल्याण के हेतु चरित्र का निर्माण किया है। राधा का चरित्र एक प्रेयसी या विरहिणी का न होकर समाज को समर्पित युवती का चरित्र है। जो काव्य में स्त्री के प्रति नए दृष्टिकोण का सूत्रपात करता है ।

लोचन प्रसाद पाण्डेय की 'नीति कविता' (1906), 'मेवाड़ गाथा' (1914) देशभक्ति व ऐतिहासिक कथ्य को लिए हुए हैं। स्त्री चेतना व तत्कालीन वर्तमान समस्याओं का जिक्र नहीं है ।

'स्वतंत्र रमा परतंत्र लक्ष्मी' (1899) से एकल स्त्री विषय पर उपन्यास लिखने की शुरुआत होती है। भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के अलग-अलग भविष्यद्रष्टा थे। उपन्यास में रमा नाम यथाकथित स्वतंत्र पश्चिमीकृत युवती के लिए रखा है तो पौराणिक नाम 'लक्ष्मी' को भारतीय संस्कृति से जोड़ा गया है । लक्ष्मी को भारतीय नारी के आदर्शों से आच्छादित रखा है। इस उपन्यास का उद्देश्य भारतीय नारी के सहनशीलता व त्याग के गुणों को पूजनीय व अनुकरणीय मानना है ।

1899 में हरिऔध का 'ठेठ हिन्दी का ठाट' प्रकाशित हुआ । 1907 में बंगमहिला के समय उनका 'अधखिला फूल' प्रकाशित हुआ। इसमें नायिका के सतीत्व की रक्षा पर ही पूरा दारोमदार रखा है। प्रेमचंद के उपन्यास 'प्रेमा' (1907) में विधवा विवाह का समर्थन किया है । ब्रजनंदन सहाय का 'सौन्दर्योपासक' (1912) रोमांटिक उपन्यास है जो प्रेम को वरीयता देता है।

बंगमहिला के समकालीन साहित्यकारों की प्रवृतितयों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक-दो उपन्यासों को छोड़कर स्त्री चेतना या स्त्रियों की स्थिति को सुधारने या समस्या का हल प्रस्तुत करने जैसा कोई साहित्य हिन्दी में उस समय नहीं रचा गया। यह सही है कि साहित्य आनन्द प्रदान करने वाला

होता है किन्तु कहीं-न-कही समाज भी उसमें अन्तर्भूत रहता है। किन्तु साहित्य में समाज की आधी आबादी स्त्रियों के बारे में नहीं लिखा गया ।

बंगमहिला के स्त्री विषय पर लिखे गये निबंध हिन्दी साहितय में स्त्री लेखन की शुरुआत करते हैं। उनके निबंधों का भले ही साहित्यिक महत्त्व न हो, किन्तु वे उस धारा की शुरुआत करती है जिसे आगे प्रेमचन्द व पंत के साहित्य में स्त्री की भूमिका तय की। एक क्रान्तिकारी के स्वर में न सही, एक सचेतन स्त्री लेखिका के नाते उन्होंने स्त्री शिक्षा, परदा प्रथा, बाल विवाह जैसी स्त्रियों की समस्याओं के बारे में अपने विचार प्रकट किए । बंगमहिला के लेखों 'गृहचर्या', 'स्त्रियों की शिक्षा', 'हमारे देश में स्त्रियों की दशा' में समाज की मूल इकाई परिवार में स्त्रियों की स्थिति को समझा गया है। स्त्री मनोजगत् के भावों व गुणों को उन्होंने सर्वथा महत्त्व दिया है। 'गृहचर्या' के आरम्भ में ही वे लिखती हैं -''ईश्वर यदि स्त्रियों की सृष्टि न करता तो दया, स्नेह, ममता, करुणा आदि मधुर मनोवृत्तियों की सृष्टि न होती ।''[17] बंगमहिला का एक अन्य लेख 'संगीत और सुई का काम' इसी प्रेरणा के उद्देश्य से लिखा गया जान पड़ता है । उक्त लेख में नारी सुलभ गुणों व स्वभाव का सही उपयोग भी बताया है ।

बंगमहिला के लेख केवल साहित्यिक पत्रिकाओं में ही नहीं, अपितु 'लक्ष्मी' व 'कन्या मनोरंजन' जैसी सामाजिक पत्रिकाओं में भी छपते थे। उनके लेखों को पढ़ने के बाद स्वतः ही ज्ञात हो जाता है कि उनके अनुभव का दायरा कितना बड़ा था। जहाँ अन्य साहित्यकार भाषा परिष्कार व राष्ट्रभक्ति तक सीमित थे, वहीं बंगमहिला ने अपने समय में स्त्रियों की सार्थक भूमिका को पहचाना। बंगमहिला इस विषय पर अपने समकालीन साहित्यकारों से अधिक सचेत थीं। गल्प और आख्यायिका की जगह उन्होंने आम घटनाओं और चरित्रों में अधिक दिलचस्पी दिखाई । एक लेखिका होने के नाते बंगमहिला ने अपना सामाजिक उत्तरदायित्व पूरी तरह निभाया। प्रश्न यह उठता है कि साहित्य से अलग सामाजिक क्षेत्र में

बंगमहिला के लेखन का क्या योगदान था? वे अपने समय के स्त्री मुक्ति आंदोलन से कितना जुड़ी थी अथवा जुड़ी भी थी या नहीं?

स्त्री संबंधी सामयिक विवाद और बंगमहिला

स्त्री मुक्ति आंदोलन के प्रारंभ से ही स्त्रियों की स्वतंत्रता को लेकर समाज में विवाद चलता रहा था। स्त्री शिक्षा व विधवा विवाह को लेकर समाज दो पक्षों में बंट गया था । एक पक्ष स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता के पक्ष में था, जिसके लिए उन्हें व्यवसायिक व व्यवहारिक शिक्षा दी जाए। दूसरा पक्ष शिक्षा की घरेलू उपादेयता पर जोर देता है। हालांकि 20वीं शताबदी के प्रथम दशक के मध्य तक आते-आते यह लगभग मान्य हो चला था कि स्त्रियाँ डॉक्टर, इंजीनियर, कृषि विशेषज्ञ व मनोवैज्ञानिक, वकील जैसे पदों पर कार्यरत थीं। बंगमहिला के लेख 'स्त्रियों की शिक्षा' में बंग महिला के इस संबंध में विचार पता चलते हैं। 1906 में 'वनिता विनोद' में यह लेख प्रकाशित हुआ था। इस निबंध में शिक्षा के घरेलू पक्ष पर अधिक ध्यान दिया गया है। शिक्षा का उपयोग चिट्ठी पढ़ने, आय-व्यय का लेखा रखने, धोबी आदि का हिसाब करने में किया जा सकता है। इसके लिए वे लिखती हैं- ''मैं विद्यालय की उच्च उपाधियों की बात नहीं करती, परन्तु कुछ थोड़ी सी शिक्षा तो साधारण स्त्रियों को अवश्य मिलनी चाहिए।''[18] यह ठीक है कि तत्कालीन परिस्थितियों में स्त्री की स्थिति का यथार्थ चिंतन बंगमहिला के लेखन में है, किन्तु शिक्षा के प्रचार-प्रसार और स्त्रियों के स्वावलम्बन के लिए यह कितना उपयोगी है- यह सोचनीय विषय है। शिक्षा की उपयोगिता को बंग महिला सीधा गृह से जोड़ती है। स्त्रियों को आर्थिक रूप से स्वतंत्र बनाने के लिए आत्मनिर्भर होने की बात उनके लेखन में नहीं है, जबकि उस काल तक व्यवसायिक शिक्षा और जरूरत समाज के सामने प्रत्यक्ष थी। जहाँ बंगमहिला 'थोड़ी सी शिक्षा' की बात करती है इससे उनका अर्थ अक्षर-ज्ञान

अथवा प्राथमिक शिक्षा से है जबकि उस समय महिलाएँ शिक्षा से जीवन के हर क्षेत्र में पदार्पण कर चुकी थी। एक संभ्रान्त व शिक्षित महिला लेखिका होने के नाते उन्हें उच्च शिक्षा का समर्थन व अशिक्षा का विरोध करना चाहिए था। मध्यमवर्गीय कन्याओं के लिए उच्च शिक्षा में आने वाली बाधाओं से बंगमहिला परिचित थी किन्तु समस्या के समाधान की अपेक्षा उन्होंने थोड़ी शिक्षा को ही यथेष्ट माना। बंगमहिला के लेखनकाल में ही उच्चशिक्षा का प्रचार-प्रसार हो रहा था। 'सरस्वती' के मई 1903 के अंक में 'गुजरातिओं में स्त्री शिक्षा' नाम से लेख प्रकाशित हुआ। 'सरस्वती' के ही मार्च 1905 के अंक में 'जापान मे स्त्री शिक्षा' प्रकाशित होता है जो विश्वव्यापी स्त्री उच्च शिक्षा का उदाहरण प्रस्तुत करता है। बंग महिला 'सरस्वती' की पाठक भी थी और लेखिका भी ।

सन् 1909 से 'स्त्री दर्पण' और 'गृहलक्ष्मी' पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ । दोनों पत्रिकाओं का स्त्री-मुक्ति आंदोलन की विचारधारा में महत्त्वपूर्ण योगदान है। 'स्त्री दर्पण' में प्रकाशित लेख स्त्रियों के लिए समान अधिकार व उच्च शिक्षा के अधिकार का समर्थन करते थे। घर, परिवार और राष्ट्र में स्त्रियों को प्रथम नागरिक होने का अवसर देने की मांगे रखी गयी। पति व पत्नी दोनों का अपने जीवन पर बराबर का अधिकार है। इन सभी निश्चयों के साथ एक नया स्त्रीवादी दृष्टिकोण 20वीं शती के प्रथम दशक में उभरा जिससे बंगमहिला का साहित्य अछूता ही रहा। बंगमहिला के लेखों व कहानियों में (अनूदित व मौलिक) पुरुष की स्वामी व पति परमेश्वर वाली छवि की ही पुष्टि होती है। पुरुष प्रधान पितृसत्तात्मक समाज को वे अविरोध स्वीकार करती हैं। अपने लेख 'गृहचर्या' में वे लिखती है-"ईश्वर ने स्त्री जाति को कोमल, दयालु तथा दुर्बल बनाया है, वे बिचारी तो आत्मरक्षा करने में असमर्थ होती है। वे तो आजीवन पिता, पति, पुत्र रूप में पुरुषाधीन रहेगी यह तो ईश्वर का अभिप्राय ही है।"[19]

शिक्षा के तत्कालीन विवाद में बंगमहिला गृहिणी छवि की पक्षधर है। उनके विचार में स्त्री में ममता, त्याग, क्षमा, सहनशीलता ही सब सुखों से बढ़कर पूजनीय व श्रद्धेय है। किसी प्रकार की असंतुष्टता या क्रोध स्त्रियों के लिए हानिकारक है। वे लिखती है- ''जिसे जिस अवस्था में ईश्वर ने रखा है उसे उसी में संतुष्ट रहना चाहिए ।''[20]

1908 में जबतक, कन्या महाविद्यालयों की स्थापना हो चुकी थी। बंगमहिला अपने लेख में लिखती है, ''हाँ, यदि पिता या पति चाहे तो घर में कन्या या स्त्री को थोड़ी-बहुत शिक्षा दे सकते हैं, यही शिक्षा हिंदू रमणी के लिए यथेष्ट हो सकती है।''[21]

मुख्यत: बंगमहिला के दो लेखों- 'स्त्रियों की शिक्षा' (1906) और 'हमारे देश में स्त्रियों की दशा' (1908) मे स्त्री चेतना के स्वरों का कुछ स्पन्दन सुनाई देता है। 'विद्रोह' बंगमहिला के समय की मुख्य प्रवृत्ति थी, इतिहास हो या राजनीति, साहित्य हो अथवा समाज, स्त्रियाँ व पुरुष बदलाव के पक्षधर थे, चाहे वह किसी भी रूप में हो। बंगमहिला विरोध तो करती है, विद्रोह नहीं करती। वे अन्याय के प्रतिकार के लिए मुखर नही है जबकि रामेश्वरी नेहरू, हुक्मादेवी, सत्यवती, उमा नेहरू जैसी आंदोलनकारी लेखिकाएँ स्त्री मुक्ति का बीड़ा उठाए थी। बंगमहिला का दृष्टिकोण वही है जो 19वीं सदी के समाज सुधारकों का था। वे भी अशिक्षा, बाल विवाह, परदा प्रथा को सामाजिक बुराई मानती है, व्यवस्था को दोष देती है, किन्तु समाज के नियमों का उल्लंघन करके पुरुष से टक्कर लेने का साहस उनमें नही था। 1915 में बंगमहिला का एक लेख 'संगीत और सुई का काम' कन्या मनोरंजन में प्रकाशित हुआ । लेख का उद्देश्य यह है कि संगीत की शिक्षा स्त्रियों के लिए आवश्यक है ताकि वे अपना व अपने पति का मन बहला सके जिससे कि पति बाहर बुरी संगति में न पड़कर घर में ही संगीत का आनंद ले सकें। इस सलाह का क्या मंतव्य है यह तो स्पष्ट ही है कि स्त्रियाँ

पढ़ाई-लिखाई छोड़कर गाना-बजाना सीखे। सुई का सदुपयोग भी बताया है जो कि गृहस्थी के व्यवहारिक ज्ञान से प्रेरित है। 1915 में जब स्त्री मुक्ति आंदोलन अपने चरम पर था और स्त्रियों के सामने उनका मार्ग व उद्देश्य साफ थे, ऐसे में बंगमहिला का उक्त लेख असंगत लगता है।

बंगमहिला के साहित्य पर गौर करें तो पाते है कि कुछ स्त्री संबंधी समस्याएँ जो बहुत विकराल थी, उन पर बंगमहिला ने एक पंक्ति तक नही लिखी- विधवा प्रथा, बाल विवाह, अनमेल विवाह । बंगमहिला का कोई लेख इनके पक्ष अथवा विपक्ष में नहीं मिलता जबकि उनके जीवन में दोनों ही प्रथाओं का व्यक्तिगत अनुभव था। भारतीय समाज में रहने वाला एक एक व्यक्ति विधवाओं की स्थिति से परिचित था। बाल विवाह के कारण बाल विधवाओं की स्थिति तो और भी सोचनीय थी । विधवाओं की दशा सुधारने के लिए 19वीं सदी से ही प्रयत्न हो रहे थे। समाज सुधार और स्त्री मुक्ति आंदोलन का यह ज्वलंत विषय रहा। स्वयं विधवा जीवन की विडम्बनाओं से गुजर कर भी बंगमहिला ने न तो विधवाओं के लिए कुछ किया और न लिखा ही। काशी जैसे धार्मिक कर्मकाण्ड से प्रभावित शहर में रहकर विधवाओं के नारकीय जीवन और उससे पैदा हुई सामाजिक और व्यक्तिगत समस्याओं की ओर उनका ध्यान न गया। अभिजात्य कुल की मर्यादा व पारिवारिक प्रतिष्ठा उनके कर्त्तव्यपालन में बाधक बन रही थी। पण्डिता रमाबाई ने विधवा होकर विधवाओं के लिए जो कार्य किया वैसा साहस बंगमहिला ने नहीं दिखाया। बंगमहिला ने विधवा होने के बाद समाज के साथ साहित्य से भी सन्यास ले लिया था।

बाल विवाह का समाज के प्रत्येक वर्ग ने विरोध किया किन्तु बंग महिला की लेखनी मौन है। स्त्रियों को वे नियति के सहारे छोड़ती है। बाल विवाह से होनेवाली सामाजिक हानियों से वे परिचित न हो ऐसा संभव नहीं है।

विवाह की आदर्श स्थिति की कल्पना कर पति की सेवा, गृहकार्य, बचत, संगीत से मनबहलाव आदि विषयों में बंगमहिला ने विस्तार से लिखा । अनमेल विवाह के कटु अनुभवों व मानसिक प्रताड़ना पर उनकी दृष्टि कभी नही पड़ी । बंगमहिला के समस्त लेखन का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राय: बंगमहिला ने अपनी लेखनी को घर की चार दीवारी तक सीमित रखा है। मौलिक लेखों के साथ अनूदित लेखों में भी उनके विषय 'पति सेवा', 'गृह' इत्यादि ही रहे । दोनों लेख बंगला से अनूदित है।

बंगमहिला के जीवन काल में स्त्री आंदोलन से संबंधित कई महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटी। स्त्री-समाज का विरोध एक साथ दो स्तरों पर चल रहा था- विदेशी सत्ता और पुरुष सत्ता। परिणामस्वरूप स्त्री मुक्ति आंदोलन ने संगठन का रूप धारण करना शुरू किया। स्त्रियों के आंदोलन की बागडोर मुख्यत: स्त्रियों के हाथों में थी।

1902 के आसपास जब बंगमहिला की विचारधारा परिपक्व हो रही थी, तब देश में विभिन्न स्थानों पर स्त्री संगठन बन रहे थे। 1902 में रमाबाई रानाडे ने 'हिन्दू लेडिज सोशल एण्ड लिटरेरी क्लब' खोला । बंगमहिला के परिवार में अध्ययन का वातावरण प्रारम्भ से ही रहा । विभिन्न पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तक उनके घर में उपलब्ध थी। ऐसे में देश की गतिविधियों की जानकारी न होना अस्वाभाविक होता । 1901 में मद्रास में पहली स्त्री पत्रिका - 'The Indian Ladies Magzine' शुरू हुई । इसकी सम्पादक कमला स्वामीनाथन थी। 1905 में कलकत्ते में सुमिति देवी ने महिला समिति बनायी । 1908 में 'गुजराती स्त्री मण्डल' की स्थापना हुई । 1909 से हिन्दी प्रदेश की महत्त्वपूर्ण महिला पत्रिका स्त्री दर्पण इलाहाबाद से प्रकाशित हुई । 1917 में एनी बेसेंट ने पहला अखिल भारतीय संगठन 'वूमेन्स इन्डिया एसोसिएशन' (डब्लू.आइ.ए.) स्थापित किया ।

बंगमहिला के समय में पूरे देश में स्त्रियां एक जुट होकर अपने अधिकारों के लिए लड़ रही थीं। ऐसे में बंगमहिला के विचारों का दायरा बहुत छोटा प्रतीत होता है। वे स्त्री को केवल गृहिणी रूप में ही कल्पित कर सकी हैं। स्त्री की समस्त प्रतिभा दिखाने का क्षेत्र घर ही है। वे लिखती हैं- "जिनके पति, स्वामी, मालिक को इतना परिश्रम करना पड़ता है, तब उनकी स्त्री को जो पति की दासी कहलाती है, क्या निज कर्त्तव्य का पालन नही करना चाहिए। अच्छे घर की स्त्रियों का एक मात्र मुख्य कर्म पाक करना है ।"[22] यह केवल एक उद्धरण मात्र नहीं है । बंगमहिला के 'गृहचर्या', 'संगीत और सुई का काम' और 'स्त्रियों की शिक्षा' ऐसे वक्तव्यों से भरे हैं । बंगमहिला के लेखन में स्त्री समस्याओं पर चिंतन-मनन नाम मात्र को है । समस्याओं के वे कोई समाधान नहीं सुझाती केवल कोई आसान विकल्प देकर छोड़ देती हैं। बंगमहिला स्त्रियों के अधिकारों का समर्थन करती है किन्तु उनके लेखन में कहीं इसके लिए प्रयास दिखाई नहीं देता। बंगमहिला के साहित्य का स्त्री विषयक सामाजिक समस्याओं की दृष्टि से मूल्यांकन करें तो उन्हें अपनी समकालीन स्त्री-चेतना से पीछे पाते हैं। असल में बंगमहिला उन महिला लेखिकाओं की विचारधारा का पोषण करती है जो पुरुष समाज का विरोध नहीं करती, अपनी स्थिति सुधारने के लिए व्यवस्था में खामी नहीं निकालती। कालान्तर में यही प्रवृत्ति फैलती गयी और स्त्री पुरुष समानाधिकार की मांग धीमी पड़ती गयी। इसका मुख्य कारण यह था कि दूसरी धारा को प्राय: पुरुषों का समर्थन नहीं मिला। राजनीति का हस्तक्षेप बढ़ने से स्त्रीमुक्ति आंदोलन का स्वतंत्रता आन्दोलन में विलय हो गया ।

बंगमहिला के लेखों व कहानियों का हिन्दी साहित्य में स्त्री चेतना की दृष्टि से मूल्यांकन करें तो पाते हैं कि बंगमहिला अपने समकालीन हिन्दी साहित्यकारों से अधिक जागरूक लिख रही थी । वे पहली ऐसी लेखिका हैं जिनका लगभग सारा

साहित्य स्त्री पात्रों से, स्त्री की भूमिका (घर व समाज में) से और स्त्री समस्याओं से आच्छादित है।

1910 के बाद बंगमहिला ने लिखना बंद सा कर दिया केवल एक-दो कहानियों या लेखों का बंगला से अनुवाद भर किया । 1910 से 1925 के बीच जब स्त्री आंदोलन समाज व साहित्य दोनों क्षेत्रों में मुखर अभिव्यक्ति पा चुका था, बंगमहिला ने लिखना छोड़ दिया । क्या अपनी आयु के विचारशील पड़ाव पर स्त्री के कर्त्तव्य व अधिकारों के प्रश्न उन्हें आंदोलित नहीं करते थे? मौलिक लेख तो नहीं ही प्रकाशित हुए, किसी पत्रिका पर या लेख या घटना पर आलोचना या टिप्पणी भी किसी पत्र-पत्रिका में देखने को नहीं मिलती । व्यक्तिगत शोक आघातों ने उन्हें इतना अन्तर्मुखी बना दिया कि वे गुमनाम रहने के लिए विवश हो गयी।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. लेख-'स्त्रियों की शिक्षा', लेखिका-बंगमहिला, बंगमहिला ग्रंथावली सं-सुधाकर पाण्डेय, पृ0सं0-113
2. वही, पृ0-115
3. वही, पृ0-114
4. लेख-'हमारे देश में स्त्रियों की दशा', लेखिका-बंगमहिला, बंगमहिला ग्रंथावली, सं-सुधाकर पाण्डेय, पृ0-121
5. वही, पृ0-121
6. 'दुलाईवाली', बंगमहिला ग्रंथावली, सं-सुधाकर पाण्डेय, पृ0-4
7. 'भाई-बहन', बंग महिला ग्रंथावली, सं-सुधाकर पाण्डेय, पृ0-
8. लेख-'हमारे देश में स्त्रियों की दशा', -वही, पृ0-122
9. वही, पृ0-122
10. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, लेखक-बच्चनसिंह, पृ-88
11. 'कुंभ में छोटी बहू', बंगमहिला ग्रंथावली, सं-सुधाकर पाण्डेय, पृ0-47
12. 'दुलाईवाली', बंगमहिला ग्रंथावली, सं-सुधाकर पाण्डेय, पृ0-2
13. नारी मुक्ति का संघर्ष, लेखक-भवदेवपाण्डे, पृ0-85-86
14. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास-बच्चनसिंह, पृ0-123
15. वही
16. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लेखक-राम स्वरूप चतुर्वेदी, पृ0-15

17. लेख-'गृहचर्या' लेखिका-बंगमहिला, बंगमहिला ग्रंथावली, सं-सुधाकर पाण्डेय, पृ0-102
18. लेख-'स्त्रियों की शिक्षा', वही-पृ0-113
19. लेख-'गृहचर्या'-वही-पृ0-102
20. वही, पृ0-104
21. लेख-'हमारे देश में स्त्रियों की दशा'-वही-पृ0-121
22. लेख-'गृहचर्या', वही-पृ0-107

निष्कर्ष

जैसा कि पिछले अध्यायों से स्पष्ट होता है, बंग महिला का लेखन काल मुख्यत: 1904 से 1915 के बीच रहा। हिन्दी साहित्य के इतिहास पर गौर करने पर पाते हैं कि बंग महिला अपनी एकमात्र कहानी 'दुलाईवाली' के लिए ही साहित्य में जानी जाती हैं। बंग महिला के किसी अन्य लेख या कहानी का जिक्र हिन्दी साहित्य में नहीं मिलता।

दूसरी ओर बंगमहिला के लेखन में पर्याप्त विविधता दिखायी देती है, तत्कालीन हिन्दी साहित्य में प्रचलित लगभग सभी विधाओं में बंगमहिला लिखती रही। निबंध, कहानी, जीवनी, लेख, आलोचना आदि। इसके बावजूद बंगमहिला का नाम केवल एक कहानी के लिए प्रसिद्ध है शायद वह भी इसीलिए कि 'दुलाईवाली' कहानी विधा के प्रारंभिक वर्षों में प्रकाशित हुई। काल समय की दृष्टि से इसका महत्त्व अधिक है। 'दुलाईवाली' के कथ्य या शिल्प के बारे में किसी इतिहासकार ने नहीं लिखा है।

सात लेखों और चार कहानियों के मौलिक लेखन के पश्चात् भी बंगमहिला हिन्दी साहित्य में स्थान नहीं पा सकी। इसका क्या कारण है? जबकि वे अपने समय की मूर्धन्य पत्रिकाओं में लिखती रही। 'सरस्वती' और 'समालोचक' में उनके लेख प्रकाशित हुए। यहाँ तक कि 'सरस्वती' पत्रिका को उस समय के साहित्य का प्रमुख मानदण्ड मानने वाले प्रमुख आलोचक रामचन्द्रशुक्ल (जो बंगमहिला के निकटतम परिचित थे) अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में सिर्फ 'दुलाईवाली' कहानी के संबंध में बंगमहिला की चर्चा करते हैं। 'गद्य साहत्य का प्रसार : द्वितीय उत्थान' में बंगमहिला को स्थान नहीं मिला।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दी साहित्य की अपने समय की एकमात्र सशक्त महिला लेखिका के साथ भेदभाव रखा गया। उनकी कहानियों और निबंधों को तत्कालीन साहित्य के योग्य नहीं समझा गया। किन्तु इस बात से पूर्णत: सहमत नही हुआ जा सकता क्योंकि बंगमहिला की कहानियों में उच्च कहानी शिल्प के दर्शन होते हैं। उस समय के अन्य किस्सागो कहानीकारों की अपेक्षा उनकी कहानियों की कथावस्तु और बनावट अधिक मजबूत है। तीसरे अध्याय में यह चर्चा की जा चुकी है बंगमहिला की कहानी कला से यथार्थ परक कहानियों की शुरूआत मानी जा सकती है। जैसा कि सुधाकर पाण्डे मानते भी हैं।

यदि बंगमहिला के लेखन की विषयवस्तु के बारे में बात की जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि बंगमहिला ने स्त्री समाज को अपने लेखन में स्थान दिया। द्विवेदी काल में जहाँ राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा से जुड़े अन्य निबंधकारों के निबंधों को प्रोत्साहन मिला, तो दूसरी ओर बंगमहिला के स्त्री लेखन का कही कोई चिन्ह साहित्य के इतिहास में नहीं मिलता। राष्ट्रीय और सांस्कृतिक जागरूकता संबंधी लेखन का महत्त्व था तो समाज से जुड़ी स्त्री समस्याओं का भी उतना ही महत्त्व होना चाहिए था किन्तु हिन्दी साहित्य के इतिहास में ऐसा नही हुआ। रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ही उत्तरोत्तर साहित्य इतिहासकारों की इतिहास संबंधी मान्यताओं का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रेरणास्रोत रहा है। शुक्ल जी ने अपने साहित्य इतिहास में तत्कालीन स्त्री संबंधी लेखन को नकार दिया उसके बाद आए साहित्य के इतिहासों में भी यही प्रवृत्ति विद्यमान रही।

हिन्दी साहित्य में बंगमहिला का साहित्य मान्य न हो सका। इसका एक पहलू यह भी है कि बंगमहिला के लेखों के विषय प्राय: सामाजिक रहे। 'हिन्दी के ग्रंथकार' निबन्ध को छोड़कर बाकि सारे निबंध सामाजिक विषयों पर लिखे गए हैं। यह अलग बात है कि अपनी सामाजिक प्रासंगिकता में वे थोड़ा पीछे रहे हैं।

बंगमहिला के लेखन में समानान्तर सामाजिकता की प्रवृत्ति मिलती है। जो समाज में 'है' को उनका लेखन प्रस्तुत करता है या यों कह सकते हैं कि कर्त्तव्य पर अधिक जोर है अधिकारों पर कम। किन्तु विचारों की स्वतन्त्रता और उनकी दिशा तय करना स्वयं साहित्यकार पर निर्भर है इसीलिए उपरोक्त कारण से बंगमहिला को हिन्दी साहित्य के बाहर नहीं किया जा सकता।

बंगमहिला के लेखन में सामाजिकता की दिशा पर बात की जाए तो उनकी अन्तर्वस्तु की मुख्य प्रवृत्ति स्त्री को केन्द्र में रखने की है। जिसका कारण बंगमहिला का व्यक्तिगत और बाह्य अनुभव क्षेत्र हो सकता है।

स्त्री के गृहस्थ जीवन को बंगमहिला उसके संपूर्ण व्यक्तित्व का प्रतिबिंब मान कर चलती है। घरेलू नारी के व्यवहार, हावभाव, मानसिकता, उनकी जरूरतें, कार्यदक्षता आदि का बारीक से बारीक वर्णन करते हुए सलाह की वृत्ति उनके लेखों में लिखती हैं। ऐसा करते हुए, स्त्री की विवशता, असमंजसता व दुर्बलता को भी बड़ी सहजता से वे अपने लेखों में उकेरती चलती हैं। बंगमहिला के लेखन में एक बात ध्यान देने की यह है कि स्त्रियों की सामाजिक दशा से परिचित होते हुए भी उनके लेखन में एक तटस्थता है, बंगमहिला सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाती है। उनके लेखों व कहानियों में नकार का भाव बहुत कम देखने को मिलेगा। शिक्षा जैसे गंभीर विषय पर भी वे कुरीतियों की सहज शांत भाव से आलोचना करती हैं। बीच-बीच में व्यंग्य का पुट हो सकता है लेकिन पूरे लेख का समस्त भाव संतुष्टि का होता है।

सकारात्मक दृष्टि के साथ एक अन्य दृष्टि जो बंगमहिला के साहित्य पर भी हावी है वह है उनका भाग्यवादी व नियतिवादी होना। स्त्रियों की दयनीय दशा के लिए वे ईश्वर, नियति व भाग्य को दोषी ठहराती है। स्त्री के लिए प्रयुक्त कमजोर, असहाय, हीन, दुर्बल व पराधीन जैसे शब्द उनके लेखन में हीन भावना को ही दर्शाते है। यह भाग्यवादी नजरिया ही स्त्री के स्वावलम्बन की राह का

रोड़ा बना हुआ था। ईश्वर प्रदत्त दुर्बलता व असहाय होने का तर्क पुरूषवर्ग को और अधिक प्रबल बना देता, और बंगमहिला जैसी महिलाओं का वर्ग इन तर्कों के सामने निरूत्तर रहता।

बंगमहिला के स्त्री समाज का शीर्ष बिन्दु है-आदर्श जीवन। विपरीत परिस्थितियों में भी आदर्श स्थिति का संयोजन उनके लेखों का मूल उद्देश्य रहा है। बंगमहिला ने अपने गृहस्थ जीवन के सुखमय काल में सर्वाधिक लेखन कार्य किया। 1904 से 1909 के बीच ही 'गृहचर्या' और 'स्त्रियों की शिक्षा', 'हमारे देश में स्त्रियों की दशा' प्रकाशित हुए। 1903 से बंगमहिला ने काशी आना जाना शुरू कर दिया था। 1904 और 1905 में अपने दो लेखों 'हिन्दी के ग्रंथकार' और 'चन्द्रदेव से मेरी बातें' से बंग महिला की हिन्दी साहित्यकारों में चर्चा होने लगी थी। पैतृक घर छोड़ने की पीड़ा से बंगमहिला अछूत ही रही। व्यक्तिगत जीवन में सुख ने साहित्य के लिए उर्वर भूमि तैयार की। अभिजात्य वर्ग की गृहस्थ दिनचर्या का उन्हें पूरा अनुभव था जो उनके 'गृहचर्या' लेख में अभिव्यक्ति पाता है परिस्थितियों के प्रभाववश वे परिवार सुख के निमित्त स्त्री आदर्श व त्याग को सर्वोच्च स्थान देती है, चाहे इसके विपरीत सामाजिक सच्चाई कितनी ही करूप क्यों न हो। यहाँ तक कि उनकी अनूदित कहानियों व लेखों पर भी यही भाव तारी है। मानो सभी लेख व कहानियां एक आदर्श मन:स्थिति में लिखे गए हैं जहाँ दाम्पत्य की समस्याएं, पति-पत्नी के असमान अधिकार और इनसे उत्पन्न क्लेश व मानसिक पीड़ा का कोई अस्तित्व ही न हो।

1909 में पिता की मृत्यु के बाद बंगमहिला ने लिखना बंद कर दिया। छ: वर्ष बाद 1915 में उनका एक लेख 'संगीत व सुई का काम' और कहानी 'हृदयपरीक्षा' प्रकाशित हुए। अपने जीवन के घोर संकट व संघर्ष के काल में बंगमहिला नहीं लिख पायी यह उनकी साहित्य के प्रति सुखात्मक मनोवृत्ति का परिचायक है। समाज की स्थिति यह थी कि उच्चकुल में जन्मी विचारशील

महिला भी अपने प्रति हुए अन्याय का विरोध करने के बजाए सामाजिक रूढ़ियों का सहर्ष पालन करती गयी। बंगमहिला के जीवन के घटनाक्रम पर नजर डालें तो पाऐंगे कि स्त्रियों के लिए नियत क्रूर प्रथाओं की वे स्वयं भुक्तभोगी थी। बचपन में विद्यालय नहीं जा पायी, तभी विवाह भी हो गया। बड़े होन पर आधा जीवन वैधव्य की विसंगतियों में काट दिया। पिता, पुत्र व पति रूप तीन अवलम्बों को खोकर भी बंगमहिला बहुत समय तक संघर्ष करती रही।

जिस महिला का जीवन इतनी कड़ी परीक्षाओं और द्वन्द्वों में गुजरा हो वह केवल सुख के समय का गीत गाए, यह आश्चर्य उत्पन्न करता है। सच्चा साहित्य तो पीड़ा व संघर्ष से उपजता है, अपनी पीड़ा व दु:ख लेखक को समवेदना की अनुभूति करवाता है जबकि बंगमहिला कहीं बालविवाह, विधवा दशा, या स्त्री की पराधीनता का विरोध नही करती। उनकी स्थिति सुधारने की शुरूआत या उनकी समस्याओं के समाधान कभी बंगमहिला की लेखनी के विषय नहीं बने। तो क्या बंगमहिला को साहित्यकार नही मानना चाहिए? क्या उनका लेखन एक महिला के व्यक्तिगत घरेलू अनुभवों से अधिक नही है? उन प्रश्नों का उत्तर उनके लेखन का विवेचन व आकलन स्वयं देता है। गरीब, असहाय, मजदूर औरतों, निम्नवर्ग की गृहिणियों तक बंगमहिला की दृष्टि नहीं पहुंचती जबकि वह समय ऐसा था कि जिसमें धार्मिक और सामाजिक कुप्रथाओं का शिकार बड़े और छोटे दोनों वर्ग की स्त्रियां थी। बंग महिला के लेखन में स्त्री चेतना अंश बहुत थोड़ा है। जैसा कि विवेचन किया जा चुका है विचारों के स्तर पर बंगमहिला अपने समकालीन स्त्री आंदोलन से बहुत पीछे थी।

मोटे तौर पर पत्रिका 'स्त्रीदर्पण' के प्रकाशन (1909) से स्त्री मुक्ति आंदोलन की विधिवत् शुरूआत मानी जाती है। किन्तु यह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी, इसकी भूमिका पहले से ही समाज में बन रही थी। दूसरे अध्याय से यह स्पष्ट है कि लगभग 1900 से ही स्त्री मुक्ति आंदोलन की शुरूआत हो चुकी थी।

पण्डिता रमा बाई के सार्थक प्रयासों से स्त्री की समाज में स्थिति को पुनः परिभाषित करने का कार्य प्रारंभ हो चुका था। जो 19वीं सदी की बात थी। 20वीं सदी में हिन्दी प्रदेश में यह आंदोलन जोर पकड़ने लगा। 1904 और 1905 तक लेखन की बारीकियों से परिचित बंग महिला समाज में हो रहे इस परिवर्तन से अनभिज्ञ रही हो यह संभव नहीं जान पड़ता। राजेन्द्र बाला घोष इसके बावजूद स्त्री समस्याओं की गंभीरता को नहीं छूती। इधर 1909 से महिलाओं की चेतना संबंधी पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारंभ हुआ तो उधर बंगमहिला की लेखनी ने विराम ले लिया। जिस समय स्त्रियां वोट का अधिकार, राजनीति में भूमिका और जायदाद में बेटी के हक का तय कर रही थी, बंगमहिला एकांतवासिनी हो पूजा पाठ और परिवार की सेवा में लगी रही। कोई भी सजग महिला अपने समाज अपने वर्ग की दुर्दशा से आलोड़ित होती। बंग महिला के लेखन में नारी मुक्ति और स्वतंत्रता के स्वर ढूँढने वाले विद्वान् इसे व्यक्तिगत इच्छा या अनिच्छा का विषय बता सकते हैं। किन्तु बात उस लेखन पर जाकर भी अटकती है जिसे बंग महिला ने इचछा से लिखा था।

बंगमहिला के लेखन को 1988 में सुधाकर पाण्डे ने संकलित किया। 'बंगमहिला ग्रंथावली' में उनके सभी अनुदित व मौलिक लेख और कहानियां है। सुधाकर पाण्डे ने यह किताब बंगमहिला के प्रति पूजनीय भाव रखकर लिखी है। बंगमहिला के सारे विचारों से वे सहमत हैं। अतएव पाण्डे जी द्वारा बंगमहिला के किसी लेख की आलोचना का प्रश्न ही नहीं उठता।

दूसरी किताब जो बंगमहिला के जीवन और लेखकीय तत्त्वों को आधार बना कर लिखी गयी है वह है भवदेव पाण्डे की 'बंगमहिला : नारी मुक्ति का संघर्ष'। बंगमहिला को नारी मुक्ति के संघर्ष का प्रतीक मानने वाले भवदेवपाण्डे बंगमहिला की परिस्थितियों और जीवन के घटनाक्रम से पूर्णतया परिचित हैं यह उनकी किताब के प्रथम अध्याय से ही पता चल जाता है। इसी अध्याय में स्त्री

चेतना से संबंधित कुछ लेखों के उद्धरण दिए गए हैं और भवदेव पाण्डे ने अपने विचार से उनकी विभिन्न अर्थों में व्याख्या की है। इसके अतिरिक्त पूरी किताब में कहीं नारी मुक्ति के संघर्ष के प्रयास का जिक्र नहीं है। भवदेव पाण्डे का शीर्षक ही औचित्य हीन है। बंगमहिला के जीवन में कितनी समस्याएँ, दुर्घटनाएं, त्रासदिया आयी और किस तरह उनका मनोबल टूटता बनता रहा, इतनी प्रतिकूल स्थितियों में भी वे संघर्षरत रही। यदि इसी आधार पर भवदेव पाण्डे उन्हें नारी मुक्ति का संघर्ष कहते हैं तो यह उचित नही है। बंगमहिला का यह संघर्ष व्यक्तिगत था। स्त्री और लेखिका होने के नाते न तो खुद के प्रति और न ही दूसरी पीड़ित स्त्रियों के प्रति उनके साहित्य या जीवन में विद्रोह का भाव आ पाया गया।

पता नही कैसे और किन आधारों पर भवदेव पाण्डे इस शीर्षक 'बंग महिला : नारी मुक्ति का संघर्ष' को रखते हैं, जबकि वे खुद इस शीर्षक को पूरी तरह अपनी किताब में समो नहीं पाए हैं। उनका इस तरह कहना कि 'अपने आक्रामक लेखन द्वारा पुरूष सत्तात्मक समाज की चूले ढीली कर दी' (1) बंगमहिला के संबंध में अतिरंजना ही लगता है। भवदेव पाण्डे ने अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को ही ऊपर रखा और बंगमहिला के लेखन में नारी मुक्ति का संघर्ष ढूंढ लिया।

बंगमहिला के सम्पूर्ण लेखन के आंकलन के बाद निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि बंगमहिला के लेखों और कहानियों में साहित्यिकता प्रचुर है, इसीलिए उनकी गणना हिन्दी साहित्य में होनी चाहिए इसका न होना ही हिन्दी साहित्य की सीमा को दर्शाता है। दूसरी ओर सामाजिक संदर्भो में उनके साहित्य को रखा जाए तो यह स्पष्ट है कि बंगमहिला के साहित्य में किसी आंदोलनकारी जैसी प्रखरता नहीं है।

जबकि 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मुखरता व प्रखरता अपेक्षित थी।

ग्रंथानुक्रमणिका

1.	आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास	बच्चन सिंह	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद। परिवर्धित संस्करण-1986
2.	इण्डियन वूमेन मूवमेंट	मैत्रयी चौधरी	रेडियेंट पब्लिशरस प्रथम संस्करण-1993
3.	इण्डियन वूमेन इन न्यू ऐज	टी.एस.राजगोपाल	जया स्टोरस, मैसूर प्रथम संस्करण-1936
4.	एलिट वूमेन इन इण्डियन पॉलिटिक्स	विजय	विकास पब्लिकेशन नई दिल्ली। प्रथम संस्करण-1993
5.	परदा-द स्टेट्स ऑफ इण्डियन वूमेन	फरीदा	टर्बनर एण्ड कम्पनी लंदन। प्रथम संस्करण-1932
6.	परम्परा का मूल्यांकन	राम विलास शर्मा	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली। प्रथम संस्करण-1981
7.	बंग महिला ग्रंथावली	सुधाकर पाण्डेय	नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी। प्रथम संस्करण-1988
8.	बंगमहिला : नारी मुक्ति का संघर्ष	भवदेव पाण्डेय	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण-1999

9.	बंगला साहित्य का इतिहास	सुकुमार सेन	साहित्य अकादमी, नई दिल्ली। प्रथम संस्करण-1978
10.	भारतेन्दु ग्रन्थावली	शिवप्रसाद मिश्र	नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी। द्वितीय संस्करण-1974
11.	भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास खण्ड-3	ताराचंद	सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय प्रथम संस्करण-1982
12.	भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओं का योगदान	एस.एल.नागोरी कान्ता नागोरी	सुरभि पब्लिकेशन जयपुर। प्रथम संस्करण-1997
13.	भारतीय स्त्री : सांस्कृतिक संदर्भ	प्रतिभा जैन संगीता शर्मा	रावत पब्लिकेशन दिल्ली, जयपुर प्रथम संस्करण-1998
14.	महिलाएं और स्वराज्य	आशा रानी वोहरा	सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार नई दिल्ली।
15.	रीकॉस्टिंग वूमेन	कुमकुम शांगरी सुदेश वैद	काली फॉर वूमेन, नई दिल्ली। प्रथम संस्करण-1989
16.	राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य	डा. वीर भारत तलवार	हिमाचल पुस्तक भण्डार दिल्ली, प्रथम संस्करण-1993
17.	वूमेन इन मॉडर्न इण्डिया	ऐवेलियन-सी-जेड्ज मिथेन चौकसी	किताब महल, बम्बई। प्रथम संस्करण-1929
18.	वूमेन इन महाराष्ट्र	वाइ.डी.फड़के	महाराष्ट्र इनफारमेशन सेंटर, महाराष्ट्र सरकार नई दिल्ली। प्रथम संस्करण-1989

19.	सामाजिक परिवर्त्तन : एक दृष्टिकोण	आभा सक्सेना	किताब महल, इलाहाबाद प्रथम संस्करण-1996
20.	साहित्य के समाज शास्त्र की भूमिका	मैनेजर पाण्डेय	हरियाणा साहित्य अकादमी चण्डीगढ़। प्रथम संस्करण-1989
21.	हिन्दी आलोचना	विश्वनाथ त्रिपाठी	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली। प्रथम संस्करण-1992
22.	हिन्दी कहानी का विकास	मधुरेश	नई कहानी प्रकाशन, इलाहाबाद प्रथम संस्करण-1996
23.	हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास	रामस्वरूप चतुर्वेदी	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद प्रथम संस्करण-1973
24.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्रशुक्ल	नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी तीसरा संस्करण-1995
25.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	डॉ0 नगेन्द्र	नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नोएडा। संशोधित संस्करण-1993
26.	हिन्दी साहित्य का भूमिका	हजारी प्रसाद द्विवेदी	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण-1991
27.	हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास	बच्चनसिंह	राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली। प्रथम संस्करण-1998

28.	हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास	सं. लक्ष्मी नारायण सुधांशु	नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी। प्रथम संस्करण-1965
29.	हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास	सं. सुधाकर पाण्डेय	नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी। प्रथम संस्करण-1977
30.	हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेंट इन इण्डिया वाल्यूम-2	ताराचंद	सूचना एवम् प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार प्रथम संस्करण-1967
31.	हिस्ट्री ऑफ डूइन्ग	राधा कुमार	काली फॉर वूमेन प्रथम संस्करण-1993
32.	19वीं व 20वीं शताब्दी में स्त्रियों की स्थिति	संतोष यादव	पिंटबेल पब्लिशर जयपुर। प्रथम संस्करण-1987

पत्रिकाएं

1.	उद्‌भावना (विशेष)	:	कामकाजी महिला विशेषांक संपादक - अजेय कुमार	:	अंक नवम्बर-2000
2.	चाँद	:	संपादक रामरख सिंह सहगल संचालक - विद्यावती सहगल	:	सभी अंक 1923-1926
3.	प्रभा	:	संपादक गणेश शंकर विद्यार्थी	:	सभी अंक 1920
4.	मॉडर्न रिव्यू	:	संपादक रामानन्द चटर्जी	:	अंक जनवरी-जुलाई 1909
5.	मर्यादा	:	संपादक कृष्णकांत मालवीय	:	सभी अंक 1910-1912
6.	सुधा	:	संपादक दुलारेलाल भार्गव व रूपनारायण भार्गव	:	सभी अंक 1926-1927
7.	सरस्वती	:	संपादक-श्यामसुंदर दास	:	सभी अंक 1901-1903
		:	संपादक-महावीर प्रसाद द्विवेदी	:	सभी अंक 1904-1908
8.	स्त्री दर्पण	:	संपादक-रामेश्वरी नेहरू	:	सभी अंक 1910-1918
9.	हंस (विशेष)	:	अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, खण्ड-1, खण्ड-2 संपादक-राजेन्द्र यादव विशेष संपादक-अर्चना वर्मा	:	अंक जनवरी, फरवरी, मार्च-2000
10.	हंस (विशेष)	:	स्त्री भूमंडलीकरण : पितृसत्ता के नए रूप। संपादक-राजेन्द्र यादव विशेष संपादक-प्रभा खेतान	:	अंक मार्च 2001